विचित्र निदान

आरिगपूडि

एक बात

ये कहानियाँ 'सारिका', 'आजकल' 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि, हिन्दी की मुख्य पत्र-पत्रिकाओ मे समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं। यह मेरा चौथा कथा-संग्रह है। बहुत-सी कहानियाँ बिखरी पडी हैं, अब भी कथायें लिख रहा हूँ—उम्मीद है, कभी वे भी इस तरह पुस्तकाकार में आयेंगी।

ये कहानियाँ 'पुरानी' हैं—समय के अर्थ मे। कहानी नई या पुरानी, शायद समय के सन्दर्भ मे ही होती है। साहित्य की हर विधा मे हमेशा स्वाभाविक विकास होता ही रहता है। लेखक का व्यक्तिगत मौलिकता का प्रयत्न कभी जम नही जाता। इसलिए एक प्रकार की नवीनता उसमे सदा स्वतः रहती है।

कहानी 'साधारण' और 'असाधारण' अवश्य होती है। कोई कहानी समय की दृष्टि से नई होने मात्र से असाधारण नहीं हो जाती। हाँ, नवीनता, असाधारण का अंग अवश्य है। असाधारण का सम्बन्ध, आन्तरिक सामग्री से है। नवीनता का अन्वेषण साहित्य की साधना का आधार है। किन्तु यह नवीनता हमेशा आरोपित नही होती। यह वस्तुतः इतनी स्वाभाविक है, कि साहित्य के निर्माण की प्राकृतिक प्रक्रिया-सी प्रतीत होती है।

मेरी कहानियाँ क्या हैं? एक असाधारण घटना या विशेष मन्तव्य या अनुभव को लेकर ही एक वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य के साथ लिखी गई हैं, —मैं केवल यही निवेदन कर सकता हूँ।

यह भी कहा जा रहा है कि कहानी की सामग्री स्वानुभूत होनी चाहिए। साहित्य की एक मात्र मांग यदि वास्तविकता ही हो और वह भी एक ही प्रकार की हो, तो यह ठीक ही है। स्वानुभूत कथाओं को र्'.

के विशाल जल-प्रवाह में एक धारा है। पर ये कहानी की विधा की सीमायें या मर्यादायें निश्चित नहीं करती। और भी कथायें होती हैं, हैं, और होनी ही चाहिये।

स्वानुभूत कथाओं की सीमायें भी, यद्यपि वे मानव तृष्णा की तरह निस्सीम-सी लगती हैं, निश्चित-सी हैं। मनुष्य के छोटे जीवन में, और उसके और भी छोटे साहित्यिक जीवन में, स्वानुभव की लालसा भले ही उत्तेजित होती हो, पर उनका वास्तविक अनुभव, या परितुष्टि नितान्त सीमित है। मानव की शक्तियाँ सीमित हैं, और क्षयशील हैं। और वे अनुभव सभी के जीवन में हैं, तीव्रता और समय में ही भेद है। मूलतः ऐसे बहुत कम अनुभव हैं; जो लेखक को ही होते हों और, और किसी को नहीं। "असन्तुष्ट" लालसा ही भिन्न होती है और तज्जनित भावनायें भी कुछ भिन्न होती हैं। परन्तु असन्तुष्ट होने के कारण वे अनुभव कैसे हो सकते हैं? शायद उनका पूरा नहीं होना भी एक अनुभव है।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ही, व्यक्ति, व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठकर, लेखक बनता है और व्यक्तिगत अनुभव से अभिव्यक्ति के स्वर से सामूहिक स्तर देता है। यानि विशेषता अनुभव की उतनी नहीं है, जितनी कि उसकी अभिव्यक्ति के कला रूप की है।

स्वानुभव अच्छा है, पर इसका अभाव का अर्थ यह नहीं है कि कहानी लिखना काल्पनिक आकाश में पतंग उड़ाना है। लेखक की शक्ति और प्रतिभा इसी में है कि वह दूसरों के अनुभवों को आत्मसात् कर सके और उसको अभिव्यक्ति दे सके, वह अपने को अन्यों में देखें, और अन्यों को अपने में। 'स्व' 'और' 'पर' में तादात्म्य स्थापित करे। यह भावुक तरलता ही उसकी निजी पूंजी है। संवेदना की स्फूर्ति ही उसकी निधि है। और सारा साहित्य ही इसके आधार पर बनता है। साहित्य में इस कारण वैविध्य आता है और वास्तविकता भी।

मेरे अनुभव सीमित हैं। नये-नये अनुभव प्राप्त करने के लिये मैं इधर-उधर के रागात्मक कार्यों में भी नहीं उलझा हूँ। 'प्रेम' के जाल, और चाल

वाजी से भी दूर रहा हूँ। लेकिन मेरा हमेशा यह प्रयत्न रहा है कि दूसरों की, मुख्यतः निम्न स्तरों की आकांक्षाओं, विषादों और आशाओं में सहभागी बनूँ, और उनके अनुभवों को अभिव्यक्ति दूँ।

यह प्रयत्न मात्र है, चूँकि 'सफलता' और 'असफलता' परिणाम है—और मैं परिणाम से दूर हूँ, क्योंकि मेरा प्रयत्न समाप्त नहीं हुआ है। 'सफलता' है ही क्या ? मेरा प्रयत्न जारी है, और मेरे प्रयत्नों का आंशिक रूप, यह कथा-संग्रह भी है।

मद्रास

आरिगपूडि

क्रम

झुकी नजर ऊपर उठी,•• दरवाजे में से लीना और डेविड जा रहे थे ''खिलखिलाते, हँसते•••सुशीला की आँखें डबडबा उठी••• उठी नजर फिर झुक गई।

यही दृश्य पहले भी तीन बार देखा था, और न मालूम क्या-क्या सोचा था, फिर सोचा था कि सोचने में भी क्या फायदा, यदि जो सोचे वह हो ही न।

आँसू ? छलक ही पड़ते हैं कभी-कभी बेमौसमी बादलों की तरह। नहीं तो क्या यह भी कोई आँसू बहाने का समय है ? शादी करके खुशी-खुशी वे जा रहे हैं। और मेरी आँखों में आँसू ? सुशीला ने सोचा, और आँखें पोंछ कर तुरन्त खड़ी हो गई। बराण्डे में गई। वहाँ लीना डेविड के साथ खड़ी थी। बड़ा सा चेहरा, उस पर मुस्कराहट ही मुस्कराहट दिखाई देती थी ' सुशीला कोई अभिनेत्री तो थी नहीं कि बनावटी मुस्कराहट भी स्वाभाविक लगती ••• मुस्कराहट विचित्र सी लगती थी गर्मी और खुशी की झिलमिलाती छाया की तरह ' मुखौटे-सी।

लीना और डेविड कार में बैठे। लीना ने मुस्करा भर दिया••• सुशीला की यह मुस्कराहट अखरी,••••••ऐसे समय लड़कियाँ रोती हैं न ? शायद माँ-बाप के सामने, बहन के सामने नहीं। खैर डेविड के हाथ विदा की अनुमति के लिये अनायास जुड़ गये। लीना घर छोड़ कर अपना घर अलग बसाने के लिये जा रही थी। खुशी का समय, खुशी की बात, और इस खुशी में शायद वह अपनी बहन को भी करीब-करीब भूल गई थी।

पर सुशीला कैसे भूले ? वह भी खुश थी । लीना जा रही थी, और लीना के साथ एक जिम्मेवारी भी जा रही थी । खुशी की बात थी, न मालूम माँ क्यों याद हो आई···शायद इसीलिये ही, आज होती तो ? हाँ, तो क्या मैं यहाँ इस हालत में होती···सहसा अटके आँसू छलक गये । और कार फाटक में से बाहर चली गई, डेविड सुशीला की ओर देख रहा था और शायद उसके नाम के बोर्ड पर ।

सुशीला को भी न मालूम क्यों बोर्ड का ख्याल आया । आजकल लोग डाक्टर के साथ श्रीमती भी लगाने लगे हैं । "श्रीमती" शब्द आप कुछ सूचित करता-सा लगता है···वैसे ही जैसे कि "बिवेयर आफ डॉग्स" का करता है ।

अगर सब कुछ वैसा ही होता जैसा कि सोचा गया था, तो लीना भी बोर्ड लटका सकती थी, डॉ० मिसेज लीना डेविड । पर वह डाक्टर नहीं बन पाई । खैर, घरवाली बन गई, यही काफी है । मैं हूँ न ? मैंने डाक्टर बनकर क्या पाया ? सुशीला ऐसी मूड में थी कि उसे हर चीज का काला पासा ही दिखाई दे रहा था । जो कुछ सोचते हैं, वह होता नहीं है, इसलिये ही तो भगवान की कल्पना की जाती है, कोसा जाता है, रिझाया जाता है, कोसने और रिझाने के लिये भी तो किसी न किसी व्यक्ति की कल्पना आवश्यक है !

लीना भी चली गई, बहुत-सी बातें हैं, क्या-क्या बातें याद की जायें । तीन बहनें हैं शादी क्या हुई कि पराई हो गई । उनके बच्चे हैं, मैं मौसी हूँ, कोई भी तो भूल कर चिट्ठी नहीं लिखती··· "प्रिय बहन सुशीला, आशा है तुम सकुशल हो···औपचारिक चिट्ठिया भी तो नहीं आतीं ! वह सब मैंने किया जो माँ-बाप करते हैं···क्या मैं एक चिट्ठी की भी अधिकारिणी नहीं हूं ?

यह दुनिया अजीब है, सब की अपनी-अपनी दुनियाँ है । बहनों की भी, मेरा भी है, पर मुझे अपनी दुनिया बदलनी होगी, नयी दुनिया बनानी होगी ··आइने के सामने खड़े होकर सुशीला अपने से

कह रही थी। उम्र पैंतालीस की हो गई है, तो क्या? मुझे भी तो अपने ढंग से जीने का हक है, प्रेम पाने और देने का हक है। अब तक चक्की में रही, अब आजाद हूँ······अब तो अपनी दुनिया बनाऊँ, चाह पूरी करूँ!

सुशीला न मालूम क्यों मकान के सारे कमरों में हो आयी···कोई भी तो नहीं था, तीन बहनें थीं, सब चली गईं। भाई नहीं भाई होते तो यह सब मुझे करना ही क्यों पड़ता? अगर मैं इन बहनों की परवरिश की जिम्मेवारी ही नहीं लेती तो क्या होता? मुझे फाँसी तो नहीं दी जाती? पर हर काम इसलिये तो नहीं किया जाता कि उसके न करने से फाँसी की आशंका है! खैर, अब तो जिम्मेवारियाँ भी ख़त्म हो गई हैं, फिर वही अकेलापन, सूनापन, एकान्त।

सुशीला बेंत की कुर्सी लेकर, मकान के बाहर, लॉन में बैठ गई। जब कभी भी बैठती तो गुजरी जिन्दगी सामने आती थी·· माँ-बाप का गुजर जाना, उस पर तीन बहनों की जिम्मेवारी का आना··· लेकिन आज आगे की सोच रही थी। जिम्मेवारी ही सही, पर यह न हो, तो हर कोई भटका-भटका-सा, भूला-भूला सा अनुभव करता है···.सुशीला भी कुछ यों ही अनुभव कर रही थी।

वह शहर की जानी-मानी लेडी डॉक्टर है। काफी अच्छी प्रेक्टिस है। अगर ये जिम्मेवारियाँ न होतीं तो वह भी बहुत-कुछ पैसा जमा कर सकती थी। अब भी माली हालत कोई खराब नहीं है। अच्छा बड़ा बढ़िया मकान है, जेवर, जवाहरात भी हैं, थोड़ा-बहुत बैंक बेलेन्स है, खाने-पीने की कोई तमी नहीं, किसी चीज की कोई खास कमी नहीं · मजे में चल रही थी जिन्दगी। किन्तु सुशीला में भी वे सब उमगें उठी थीं, जो उसकी बहनों में उठी थीं, जिन्होंने उनको शादी करके अपना अलग घर बसाने के लिये प्रेरित किया था। पर वह अब तक उन उमगों को जकड़कर, काबू में रखती आयी थी। मगर कब

तक ?

उम्र हो गई थी, पर वे सब बातें उसकी जिन्दगी में नहीं हुई थीं, जो उम्र के साथ हुआ करती हैं। हवश हवश ही रह गयी थी, कोई अजीब-सी भूख उसे सता रही थी, कोई चाह उसे बेचैन कर रही थी, कोई सुनहला सपना ललचाता उसे इशारा करता-सा लगता था।

कई दिन उसने यूँ ही काट दिये, कुछ सूझा नहीं। घर काटता-सा लगा। कुछ सूझा नहीं। इतना सब-कुछ इन बहनों के लिये किया था, पर एक ने भी तो अपने घर कभी बुलाया नहीं···शायद इसलिये कि मैं क्वारी हूँ, कौन जाने क्या कारण थे,···डॉ० सुशीला के लिये ये बड़ी बेचैनी के दिन थे।

प्राय: वह अखबार पढ़ती, और उनमें विवाह के विज्ञापन भी देखती ..फिर वह सोचकर कि उस उम्र में उससे कौन शादी करेगा, उसने उन्हें पढ़ना भी छोड़ दिया था एक दो-बार जब विज्ञापन के उत्तर में लिखा तो मुँह की खानी पड़ी।

और कोई रास्ता न था। उस दिन उसने अखबार में विज्ञापन देने की ठानी···डॉक्टर, अच्छी आय, स्वस्थ, उत्तम परिवार···विधुर भी इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

विज्ञापन देकर सुशीला घर में न रह सकी। इतना उत्साह, इतनी उत्सुकता कि वह एक जगह बैठ भी न पाती थी। इस तरह बाजार में चीजें खरीदती रही, जैसे उसकी शादी धूमधाम से होने जा रही हो···विशेष प्रकार का आनन्द, प्रफुल्लता !

वह उन परिचितों के घर भी मिलने गई जिन्हें मिलने के लिये उसके पास समय न था। उसकी हरकतें ऐसी थीं, मानो वह शादी करके ही रहेगी, कुछ भी हो, उम्र चालीस हो, या साठ विधुर हो, या क्वारा। शहर में डॉ० सुशीला के बारे में कानाफूसी भी होने लगी थी।

शायद डॉ० सुशीला ने भी उम्मीद न की थी, उसके विज्ञापन के

उत्तर मे पत्रों के गट्ठर आयेगे, और जब वे न आये, तो वह अधिक निराश भी न हुई। शायद उसका विज्ञापन उतना आकर्षक न था, शायद वह अखबार उतना बहुपठित न था, या शायद उसकी किस्मत ही खराब थी। केवल तीन पत्र आये। एक कोई फौज का रिटायर्ड अफसर था, जो कोटगिरि में रह रहा था, उम्र ६३ की थी, पेन्शन बहुत न सही, कम भी न थी। सुशीला को वह न भाया। उसने सोचा कि वह स्त्री नही नर्स चाहता है, और मैं नर्स बनने के लिये तैयार नही हूँ।

दूसरा पत्र किसी टीचर का था। चार लडकियो का बाप, सुशीला के पिता की तरह। पत्नी हाल मे गुजर गई थी।...तीन शादियाँ करवायी, अब चार और की कैसे शादी करूँ? सुशीला ने सोचा। एक टीचर और एक डॉक्टर से शादी करने की उम्मीद! वह स्त्री नहीं, बच्चों के लिये आया चाहता है 'नही।

तीसरा कोई छोटा-मोटा जमीदार था। मलाबार का, आमदनी खराब न थी। उम्र का जिक्र न था, यह भी न बताया गया था कि क्वारा है, या विधुर। डॉ० सुशीला ने सोचा, भाषा भले ही भिन्न हो, अंग्रेजी तो जानता ही होगा, 'यह ही कुछ जँचता है'' डॉ० सुशीला ने सोचा। तुरन्त उसको पत्र लिखा। डॉ० सुशीला ने सोचा अवश्य कि ऐसी बातें चिट्ठी-पत्री मे कही तय होती हैं!

पर कौन जाये बातचीत करने? है ही कौन? कोई सोलह-सत्रह की तो हूँ नही कि बड़े बुजुर्ग दौड़ धूप करें'''डॉ० सुशीला कुछ झेंपी।

फिर उस "जमीदार" से चिट्ठी आयी कि डॉ० सुशीला अपना फोटो भेजे। वह स्वय व्यस्त था, इसलिये वह स्वयं उसको देखने नही आ सकता था। न जाने क्यों इस बात ने डॉ० सुशीला को प्रभावित किया? वह हवाई किले बनाने लगी'' उन्ही ख्यालों से वह खिलवाड़ करने लगी, जिनको सोचते वह कभी लजाती थी।

बहुत कुछ सोच-साच कर, झेंपने-झिझकने के बाद, डॉ० सुशीला ने अपना बीस वर्ष पुराना फोटो भेजा…उस समय का जब वह मद्रास में मेडिकल कालेज में पढ़ती थी,…सोचा था कि यदि कभी माँग होगी, तो उस फोटो को भेजेगी,…आज बीस साल बाद, उसकी मांग हुई है। फोटो अच्छी थी, फिर यह भी सोचा कि नया फोटोग्राफ भेजा गया तो आदमी भी शायद पीछे चला जाये। झूठ था, धोखा था, पर बड़ों ने कहा भी तो है कि हजार झूठ बोलकर एक शादी करवाओ। यह गलत काम करके भी डॉ० सुशीला बिल्कुल शर्मिन्दा न थी।

कुछ अच्छे दिनों की बात थी,…शादी हो रही है…शुभ कार्य क्यों अशुभ समय में किया जाये? न डॉ० सुशीला उसको देखने गई, न वे "दूल्हा" सज्जन ही उसको देखने आ सके। इस बीच डॉ० सुशीला ने उनको फोटो भेजने के लिये लिखा।

न मालूम क्यों उनको भी वही बात सूझी, जो डॉ० सुशीला को सूझी थी,…शायद दो व्यक्ति, जो जीवन की धारा में मिलने जाते हैं, उनके मन भी एक ही तरह, एक ही दिशा में लुढ़कने लगते हैं। गरज यह, उन्होंने भी अपनी बीस साल पुरानी फोटो भेजी…अच्छा-भला खूबसूरत चेहरा, नाक-नक्शा सब ठीक, मूँछें, रईसी रौब। डॉ० सुशीला फोटो देखकर प्रभावित हुई।

सोते-सोते तो हर कोई सपना देखता है…यदि मन में उत्कंठा उफन रही हो, तो हर समय सपने दीखते हैं और समय भारी हो जाता है। डॉ० सुशीला का समय काटे नहीं कटता था। अकेलापन जो पहले ही नहीं सहा जा रहा था, अब और असह्य हो उठा था। कब वे आयेंगे? क्या मेरी बहनें खुश होंगी? शायद हाँ, वे मुझ पर तरस खायें। लीना नाराज हो, क्योंकि वह जानती है कि यदि मेरी शादी हो गई तो मैं पैसा न दूँगी। उसे फिलहाल पैसे की जरूरत है। डेविड बेकार है…मोहब्बत की शादी। खैर, मैं…, मुझे क्या कोई खुश हो

या न हो, कुछ भी हो, अब जिन्दगी आधी हो ही गई है, और किया क्या अब तक ? अब मेरी हवश पूरी हो रही है, न जाने कितने लोग मेरी खुशी पर जले, जलें। मुझे क्या ?

गुजरते-गुजरते वह दिन भी आया, जब वे 'सज्जन'' आये। डॉ० सुशीला स्टेशन पर उन्हें मिलने गई। छोटा-सा स्टेशन, गाड़ी भी बड़ी न थी, दो बार गाड़ी छान गई, किसी को देखती, और फोटो से उसकी शक्ल मिलाने की कोशिश करती। कहीं किस्मत ने फिर खिलवाड़ तो नहीं किया है ? यह क्या आशायें उपजी, और उपजते ही उन पर पाला बरसा, ···वह यों सोच रही थी कि एक व्यक्ति ने आकर पूछा, "आप क्या डॉ० सुशीला का मकान जानती हैं ?"

"जी, आप ? आप ही क्या पालघाट से आ रहे हैं ?"

"जी, आपको क्या डॉ० सुशीला ने भेजा है ?"

"मेरा नाम ही डॉ० सुशीला है···" डॉ सुशीला की आवाज इस तरह खिंच रही थी, जैसे वह आह भर रही हो। वह ढह-सी गई। मन का उफान यूँ थमा जैसे किसी उबलती चीज के नीचे से आग निकाल दी गई हो।

तो आप हैं डॉ० सुशीला ! हाँ-हाँ आपकी शक्ल हूबहू वैसी ही है, जैसे कि फोटो में थी, ···"वह व्यक्ति मुस्कराता-मुस्कराता कह रहा था, और डॉ० सुशीला सोच रही थी, एक तो धोखा, तिस पर ताना। वह नाक-भौं चढ़ा रही थी।

वह 'अच्छा, भोला खूबसूरत चेहरा' बिल्कुल तहियाया हुआ-सा था। झुर्रियाँ ही झुर्रियाँ। नाटा कद, ···डॉ० सुशीला से दो इंच कम। भुना काला रंग ··नाक-नक्शा बिल्कुल ठीक, पर ऐसा जैसे उनमें दरारें पड़ गई हों। साठ-पैंसठ का खूसट, बुढऊ।

डॉ० सुशीला आगे-आगे इस तरह चल रही थी मानो किसी से पिण्ड छुड़ाकर भागी जा रही हो। पर वह पैंसठ वर्ष

चल रहा था, जैसे उसे कोई तेजी से खींच रहा हो।

डॉ० सुशीला अपनी कार में बैठी, तो वह भी इस तरह उसमें बैठा, जैसे वह उसकी अपनी हो, और होंठ चपटे करके मुस्कराने लगा, मानो मैदान मार लिया हो। और डॉ० सुशीला का जी चाह रहा था कि उस पर नश्तर चला दे, उसे उठाकर सड़क के पास के कटे लक्कड़ों में फेंक दे। पुलिस को इत्तिला दे, पर कैसे दे? किस मुंह से दे? उसी के निमन्त्रण पर तो वह आया था।

डॉ० सुशीला झुंझला उठी।

वे घर पहुँचे। वह व्यक्ति बैठक में जा बैठे। डॉ० सुशीला का नौकर हक्का-बक्का था। वह भी शायद हंसना चाहता था, पर मुख बन्द करके हाथ जोड़ता, उसने उनका सामान लाकर अन्दर रख दिया। डा० सुशीला की हालत ऐसी कि वह उसे रोक भी न सकती थी, कुछ कह न पा रही थी। अपने कमरे में जाकर औंधे मुंह बिस्तर पर गिर पड़ी, जैसे क्लोरोफार्म सूंघ लिया हो।

कितनी देर सिसकती! सिसकने से उलझी बाट सुलझ तो सकती न थी। उठी। उस कमरे में गई, जहाँ वे बैठे थे। "आपका मकान तो बड़ा अच्छा है! जगह अच्छी है, लोग कहते हैं गर्मियों में यहाँ ज्यादा गर्मी होती है···" उन्होंने कहा।

"क्यों आपका यहीं धरना देने का इरादा है?" सकुचाती-सकुचाती डॉ० सुशीला पूछ ही बैठी।

"हाँ-हाँ, धरने की क्या बात है। शादी-वादी का आपने इन्तजाम कर दिया है न?"

"शादी? ···शा···दी?" डा० सुशीला हकलाने लगी। फिर बढ़ते गुस्से ने उसको हकलाने भी न दिया।

"हूँ, मैं वहाँ सबको छोड़-छाड़कर आया हूँ, ···परिवार को, जमीन-जायदाद को, मामला उलझेगा, चिट्ठी-पत्री का सबूत है ही, बताये देता हूँ। उस व्यक्ति ने इस प्रकार कहा जैसे रास्ते भर इन

वाक्यों को रट-रट कर रिहर्सल करता आया हो। डा० सुशीला भी जान सकती थी कि वह रौब गाँठने की कोशिश कर रहे थे। पर क्या कहती, क्या करती ?

"आपने गलत फोटो भेजा। क्यों भेजा था ? मैं पुलिस में..."

डॉ० सुशीला कह रही थी, कि इस बीच वे तपाक से बोले, क्या मैंने ही गलत फोटो भेजा था ? आपने शायद सही फोटो भेजा था ! ताना मारकर, खिलखिला कर वे हँसने लगे। उसकी हँसी के कारण डा० सुशीला के बदन पर चिंगारियाँ-सी लग रही थी। लहू का घूँट पीकर रह गई।

डॉ० सुशीला को लगा जैसे उसकी तीनों बहनें, दरवाजे पर खड़ी होकर, अपने-अपने पतियों के साथ, ठट्ठा मार कर हँस रही थी। उपहास कर रही थी। उसने झट आँखें फेर लीं, नजर मोड़ ली।

—:※:—

अभिनेता

अगर किस्मत साथ देती तो चन्द्रशेखर का नाम भी हर किसी के मुख पर होता, उसके पोस्टर भी जगह-जगह दीवारों पर चिपके हुए होते, उसका चेहरा भी हजारों से हजारों बातें चुपचाप कह रहा होता।

जब उसने जिन्दगी शुरू की थी, और जिस तरह शुरू की थी, ; अन्दाज किया जा सकता था कि किसी दिन शोहरत उसके पाँव चूमेगी। वह रंगमंच पर आया, उसने अपनी भूमिका ऐसी की कि सारे शहर में तहलका मच गया, तूफान-सा आ गया। हर किसी ने उसकी वाह-वाह की, तारीफ की। अखबारों में उसका नाम छपा, कॉलेजों और होटलों में उस पर बहस हुई।

चन्द्रशेखर अभिनेता था,…ऐसा अभिनेता जिसने मुसीबतें और दिक्कतों की तपती सड़क पर नंगे पाँव कड़ी दुपहरी में, चलना शुरू किया था…प्रथम रंगमंच पर आने से पहले की बात मैं कह रहा हूँ। उसने कितने ही किवाड़ खटखटाये, किसी ने कहा प्रतिभा नहीं है, किसी ने कहा अनुभव नहीं है, किसी ने कहा नाक-नक्शे में नुक्स है, किसी ने कहा उम्र कम है। गरज यह है कि वह मारा-मारा फिरता रहा, पर रंगमंच का कुछ ऐसा आकर्षण कि ये सब मुसीबतें झेलकर भी वह रंगमंच के लिये पगलात-सा रहा। असफल लगन को प्रायः पागलपन ही कहा जाता है।

अब शायद उसे वे दिन याद भी नहीं हैं, जब वह प्यास बुझाने के लिये मन्दिर के पास के तालाब का गन्दा पानी पिया करता था। उस

जल के आचमन से भले ही मुँह और हाथ पवित्र होते हों पर उसकी प्यास भी न बुझती थी। इधर-उधर कुछ खा-पीकर भूख मिटाता, अवसर फाके करता। काश वह भी वह दिन देखता जब मुसीबतों का बूता देकर वह अपने बड़प्पन को और बढ़ा करता।

चूंकि वह अब भी जीवित है, और चेहरे-मोहरे की बात अब भी उठती रहती है, इसलिये कहता जाऊँ कि भले ही रंगमंच के निर्माताओं और ठेकेदारों को उसका चेहरा न जँचा हो, पर उस पर पतंगे होने वालों की संख्या भी कम न थी, और जब उसको शोहरत मिली तो उसकी कशिश और भी बढ़ गई थी। विशाल मस्तक, तनी तनी सी धनुष-सी भौंहें, बड़ी-बड़ी, पिघली-पिघली सी, मस्ती से लबलबाती-सी, मादक-सी आँखें, लम्बी नाक, गोरा रंग, इकहरा बदन, ऐसे हाव-भाव, चाल-ढाल, कि बरबस लोगों की नजर खिंचती, और टिक-सी जाती।

बातें जरा लम्बी हो रही हैं। हाँ तो, चन्द्रशेखर रंगमंच का कलाकार था। उसके बुरे दिन कैसे लदे, इसके पीछे एक कहानी है। एक दिन वह एक प्रोड्यूसर के कमरे में, भगीरथी कर रहा था कि एक व्यक्ति आया। सारे चेहरे पर बस ऐनक ही ऐनक दिखाई देती थी। भुना-भुना-सा, सिकुड़ा-सिकुड़ा-सा, पिटा-पिटा सा चेहरा, वह भी प्रोड्यूसरों के घरों की परिक्रमा कर रहे थे। वे लेखक थे, और उनके नाटकों की हालत भी वही हो रही थी, जो चन्द्रशेखर की हो रही थी।

उन्होंने चन्द्रशेखर को पैनी नजर से चोटी से एड़ी तक देखा। न मालूम उसको देखकर उन्हें क्या सूझा कि पूछ बैठे, "भाई कहाँ रहते हो?"

"मैं?" चन्द्रशेखर कुछ-कुछ झेंपा, "हाँ,-हाँ, अभी तो यहीं हूँ, मेरा कोई निश्चित पता नहीं है···बस, यहीं, के——— ———
मन्दिर···"

"अच्छा ! आओ हमारे यहाँ रहो, जगह बड़ी नहीं है, पर दो प्राणियों के लिये छोटी भी नहीं है," उस व्यक्ति ने कहा।

चन्द्रशेखर वहाँ गया, आज वह जगह नहीं है, वह दो कमरों वाला खपरैल का मकान नहीं है, एक बड़ा-सा दुमंजिला घर है। जो कभी चन्द्रशेखर की रईसी और शोहरत का सबूत समझा जाता था।

उस व्यक्ति ने···नाम भी बतादूँ। रंगनाथ ने, एक नाटक लिखा। चन्द्र शेखर को, जिसको हर किसी ने दुत्कार दिया था, उसने हीरो बनाया, और नाटक सफल भी रहा। उसके बाद रंगनाथन ने कई नाटक लिखे, और चन्द्रशेखर ने उनमें काम किया, नामवरी हुई, अमीरी भी आयी।

पर तभी एक घटना घटी। जहाँ उसका घर था, उसके पिछवाड़े में पेड़ों का झुरमुट था, उसके बाद एक छोटा-सा नाला, फिर केले के पेड़ों का झुण्ड, उनसे सटा दुमंजला मकान।

एक दिन रात को चन्द्रशेखर अपने मकान की छत पर बैठा था, तभी-तभी वह बना था। चाँदनी थी, एकान्त हो, खुली छत हो, जवानी हो, तो दिल भी, भीनी-भीनी चाँदनी में, स्वप्नों के संसार में तैरने-सा लगता है।

इतने में नाले के पार से संगीत सुनाई पड़ने लगा, चन्द्रशेखर लहराते पानी की ओर देखने लगा, जैसे लहरें और चाँद मिलकर वह स्वर्गिक संगीत पैदा कर रहे हों। संगीत आता जाता था, संगीत के साथ, चन्द्रशेखर के मन में गायिका की कल्पना मूर्ति शनैः-शनैः बनती जाती थी।

उसने भी चाहा कि एक गाना गाये, फिर यह सोच कि ऐसी बातें तो फिल्मों में होती हैं, कहीं असली जिन्दगी में होती हैं? शरमाया। वह काफी देर तक उसी का गाना गुनगुनाता रहा।

जब सोने की कोशिश की तो नींद हरिण थी। तारे गिनते-गिनते भी रात न कटी। छत पर चहलकदमी करता वही गाना गाता जाता था। लगता था उस गाने ने उस पर जादू कर दिया हो।

सूर्योदय हुआ, पर उसके स्वप्न तब भी चलते जाते थे। उत्सुकता और सन्देह, एक झिलमिलाते चित्र में, सम्मिलित से हो, उसकी आँखो के सामने स्थिर हो गये थे।

कलाकार था, उसके भी बहुत से प्रशंसक थे। जिस समाज मे वह था उसमे स्त्रियों का मिलना-मिलाना उतना मुश्किल न था। पर चन्द्रशेखर उनसे न मिलना चाहता था। उनको कुछ गिरी-बिगड़ी समझता था। यदि कभी-कभी मारा-मारा फिरना पड़ा था, तो कुछ हद तक ऐसी स्त्रियाँ ही उसके लिये जिम्मेवार थी।

उस स्त्री की आवाज सुनकर उसे यह सन्देह हुआ कहीं यह स्त्री भी तो वैसी नही है। लोग कहते हैं कि जिनकी आवाज अच्छी होती है, उनकी शक्ल-सूरत खराब होती है। कही इसकी शक्ल तो खराब नही है? क्यों मुझे यह आकर्षित कर रही है? मैंने अभी उसे देखा भी नही है, क्यों उस पर यूँ पतंगा हो रहा हूँ?

वह स्वयं चकित था, यह भी सोचता कि उसे यूं आकर्षित नही होना चाहिये पर अपने को विवश-सा पाता। उसने उसके बारे में, मालूम करने के लिये अपने यार-दोस्त भगाये। मालूम हुआ कि वह किसी एडवोकेट की लड़की थी, सगीत की विद्यार्थिनी थी, बीस-इक्कीस वर्ष की उम्र थी। देखने-भालने में खराब न थी, और उसके घूमने-फिरने पर पाबन्दी भी न थी।

चन्द्रशेखर किसी न किसी बहाने रोज उसके घर के सामने से दो-तीन बार गुजरता, कभी उसकी झलक दिखाई देती तो गद्-गद् सा हो उठता। रात आती तो सोचता क्यों यह चाँद भी शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष का झमेला पाले हुए है? क्यों नहीं वह पूर्णिमा में स्थिर हो जाता?

उसने मकान के पीछे के पेड़ भी कटवा दिये, पर उसके घर के बेंगे के पेड़ कैसे कटवा देता? कई बार खखारता कई बार कोई तान-सी छेड़ता, पर लड़की का कोई जवाब न मिलता। चन्द्रशेखर

और बेकरार हो उठता। छटपटा-सा जाता।

मंच पर जाता तो कभी-कभी डायलॉग की लाइनें भूल जाता, फिर खड़ा-खड़ा यूँ श्रोताओं की ओर देखता, जैसे उस स्त्री को खोज रहा हो। न काम में मन लगता, न खाने-पीने में ही।

चन्द्रशेखर ने फिर उस लड़की का गाना सुना, पगला देने वाली आवाज, पगला देने वाला गाना। उसे ऐसा लगा जैसे उसे उसके लिये गाया जा रहा हो। उसकी विह्वलता और बढ़ी। वह उस स्त्री को देख लेता, पर मिल न पाता। शायद वह भी उन सब तरीकों को अख्तियारता जो लोग अक्सर किया करते हैं। किन्तु यह सोच कि न मालूम वह उसे क्या समझे, उसने कुछ न किया, विह्ववलता के साथ विवशता भी आ गई थी।

आखिर उसने यह बात रंगनाथन से कही. बहुत झिझकते-झिझकते, हिचकते-हिचकते। रंगनाथन ने कहा "मैं उसके पिता को जानता हूँ, लड़की को जानता हूँ नाम पद्मा है, सब ठीक हो जायेगा।"

यह सुन चन्द्रशेखर का मन बल्लियों उछलने लगा। बात ऐसी थी कि मन को उछलने के लिये बल्लियों के सहारे की भी जरूरत न थी। दो-चार दिन रंगनाथन ने सुझाया, "पद्मा के पिता ने बड़ा खर्च करके उसे संगीत सिखाया है। वे होने को तो एडवोकेट हैं, पर कई बातों में वे बड़े दकियानूस हैं। फिर भी मैंने उनको मना लिया है। पद्मा हमारे स्टेज से गायेगी, वह भी मान गई है। आगे तुम जानो और तुम्हारा भाग्य जाने।"

बात बन गई, चन्द्रशेखर का पद्मा से परिचय हुआ। शायद घनिष्ठता भी बढ़ती, यदि वे शुरू में ही, कम-से-कम पद्मा नहीं जान जाती कि कुछ ऐसी सामाजिक सीमायें हैं, जो उनको विवाह तो अलग प्रेम भी न करने देंगी। चन्द्रशेखर भी कुछ सहमा-सहमा-सा रहता···एडवोकेट की लड़की है, बड़े घराने की है, न मालूम दो दिलों को लेकर दुनिया में क्या झमेला पैदा हो जाये ?

उनका मिलना भी छुप-छुप कर होता, कभी स्टेज पर, कभी ग्रीन रूम में। पद्मा साफ-साफ कुछ न कह पाती हो, पर चन्द्रशेखर को समझ सकती थी, पसन्द भी करती थी, पर अपने आप मिलने-जुलने का साहस न कर पाती थी। एडवोकेट साहब की निगरानी भी थी।

चन्द्रशेखर इतना खोया-खोया-सा रहता था, कि उसके प्रशंसक उससे कुछ खीझ गये थे।

कभी-कभी चन्द्रशेखर निराश हो सोचता कि क्या अच्छा होता, अगर मेरे माँ-बाप होते, और वे सब तय कर देते। फिर यकायक इस तरह सम्भलता, जैसे उसके मन में कोई गलत ख्याल आ गया हो। माँ-बाप ठीक होते तो इतनी झिझक और झेंप की जरूरत ही क्या थी? माता तो उसके पैदा होते ही गुजर गई थी, और उसके स्वर्गीय पिता ने वचन ले रखा था, कि किसी भी हालत में उनका नाम न दिया जाये। उसकी माँ उनसे विधिवत विवाहित न थी, रखैल थी। उनके जीवन के बारे में वस्तुतः बहुत-सी बातें गोप्य थीं। बातें कुछ भी हों, मानव शरीर, काल और अवस्था के अनुसार अपनी माँगें पेश करता ही जाता है ऐसी ही एक जबरदस्त माँग में चन्द्रशेखर भी जकड़ा हुआ था। खैर!

कई दिनों की प्रतीक्षा के बाद, चन्द्रशेखर को एक मौका मिल ही गया। पद्मा अपने कार्यक्रम के लिये जल्दी ही आ गई, उसके पिता शहर में न थे। कह गये थे कि ठीक समय पर आ जायेंगे, किन्तु गाड़ी पाँच घन्टे लेट थी। इसलिये वे नहीं आ पाये थे। वह चन्द्रशेखर जो सैकड़ों श्रोताओं के सामने निस्संकोच हो, निर्भीक हो, अभिनय करता था, पद्मा के सामने जमा-जमा-सा खड़ा रहा, काफी देर तक कुछ बोल भी न पाया, और जब बोला तो ज-लड़खड़ा गई।

"मैं आपसे प्रेम करता हूँ..." चन्द्रशेखर ने कह दिया।

लगा—कहीं हिन्दुस्तान में ऐसी बातें कही जाती हैं ?

पद्मा मुस्करा भर दी । उसने अपना सिर एक तरफ मोड़ लिया ।

"मैं आपसे बहुत दिनों से···" चन्द्रशेखर इस तरह हाथ मलने लगा जैसे मंच पर किसी प्रेम दृश्य का अभिनय कर रहा हो ।

पद्मा ने कहा, "आप तो इस तरह कह रहे हैं, कि जैसे किसी अंग्रेजी फिल्म का डायलॉग कह रहे हों, " वह हँस दी ।

"नहीं तो, आपको शायद नहीं मालूम कि मैं इस घड़ी के लिये कब से तड़प रहा था ।"

"हूँ !" पद्मा ने इस प्रकार कहा, जैसे उसे विश्वास न हो रहा हो ।

"आपको संगीत का शौक है, मुझे अभिनय का । हम दोनों के कारण ही यह नाटक संस्था चल रही है । इस तरह अगर यह चलती रही, तो हम भी खैर,···अगर दो दिलों का मेल हो, तो ये सब बातें फिजूल हैं···चन्द्रशेखर ने पद्मा के पास आते हुए कहा, और पद्मा एक तरफ खिसक गई । फिर उसने कहा "अब गाने का समय हो गया है न, पिता जी शायद नहीं आ पायेंगे ।"

'क्या आपके पिता जी जानते हैं कि हम दोनों का मेल-जोल है ?" चन्द्रशेखर ने पूछा ।

"हाँ-हाँ, जानते हैं ।"

"उनका क्या ख्याल है ?"

"वे कह रहे थे गाने-वाने की कोई जरूरत नहीं है, अगर···"

"हूँ, मगर आप···"

"हूँ, मगर मुझे गाने का इतना शौक है कि मैं हो अपनी जिद पर आ-जा रही हूँ ।"

"हाँ, मुझे मालूम है कि आपके पिता जी को हमारा मिलना पसन्द नहीं है···फिर भी···क्या कहते थे ?"

"कहते थे कि आप कलाकार हैं, प्रेम का भी अभिनय करते हैं,

जो प्रेम का अभिनय करते हैं, वे प्रेम नहीं कर पाते हैं, फिर आपका पेशा ऐसा है कि उसमें सच्चा प्रेम स्थायी रूप से हो ही नहीं सकता। एक अभिनेता से प्रेम-प्रेम करना अपने को धोखा देना है'''मेरे पिता जी कहते हैं, मगर ''

चन्द्रशेखर जोर से हँस पड़ा।

पद्मा मंच पर गाने चली गई। चन्द्रशेखर ने सोचा था कि जन्म और जाति के बारे में आपत्ति की जायेगी, पर यहाँ तो पेशे को लेकर आगे-पीछा किया जा रहा है।

उसके बाद भी कई बार बात हुई, यूँ ही छुपे-छुपे। हर बार पद्मा ने पिता की बात इस तरह दुहराई जैसे उसका भी अपना वही ख्याल हो'' अभिनेता प्रेम का अभिनय कर सकते हैं, सच्चा प्रेम नहीं कर सकते।

बात इतनी दूर पहुँची कि चन्द्रशेखर ने अभिनय करना ही धीमे-धीमे छोड़ दिया, पर तब यह कहा गया कि प्रेम के नाटक का यह भी एक भाग था, जिसका वह सफलतापूर्वक अभिनय कर रहा है। उसका विश्वास न किया गया। वह एक दिन शहर छोड़कर चला गया।

जीवन भर चन्द्रशेखर ने अभिनेता होने के लिये प्रयत्न किया था, और जब वह अभिनेता बन गया था, तो उसे जीवन का ही बलिदान करना पड़ रहा था।

उसने बहुत-सी चिट्ठियाँ लिखीं, पर पद्मा के यहाँ से जवाब नहीं आया। लेकिन उसने मित्रों के मुँह सुना कि तब भी उसके बारे में पद्मा के घर यही कहा जा रहा था कि प्रेम के नाटक का अन्तिम भाग अभिनीत किया जा रहा था। कहा जा रहा था कि चन्द्रशेखर दीवानेपन का अभिनय कर रहा था। कैसे कहे, कि वह अभिनय नहीं कर रहा था, जो कुछ कर रहा था वह वास्तविक था, किसी को विश्वास दिलाने के लिये कर रहा था। पर कोई विश्वास करे

तब न ?

और इस बीच इधर-उधर का गोल-माल करके, रंगनाथन ने उसका पैसा, उसका घर वगैरह सब हथिया लिया था। कोई प्रेम पर पगलाये तो पगलाये, उसकी आय का रास्ता क्यों बन्द हो ? चन्द्रशेखर इधर प्रेम में असफल रहा, उधर पेशे से भी गया, और गरीबी की मुसीबत अलग से मोल ले बैठा। पद्मा स्वप्न मात्र-सी रह गई।

वह गली-गली मारा-मारा फिरता। सब कहते कि वह प्रेम का मारा था। उसके सच्चे प्रेम पर विश्वास करते। पर उस विश्वास से तब फायदा ही क्या था, जब उसकी जिन्दगी ही पटरी से उलट गई थी।

चन्द्रशेखर हाय-हाय करता, किस्मत को लेकर रोता। और वे ही लोग जो उसको सुनने के लिये आतुर रहा करते थे, उसको पियक्कड़ बताकर उसको अनसुना करके चले जाते। पद्मा के पिता का ख्याल था, कि वह अभिनय अब रंगमंच पर न करके, रंगमंच के बाहर कर रहा था।

—:.:—

पितृदेवो भव

"खुद पिता हो गया है, बच्चों वाला है, अब तो समझे…" कई बार ये बातें उसके मन में आईं। लगातार आती रहती हैं।

वह उसको चिट्ठी लिख सकता है, वह उनको लिख सकता है" पर दोनों ही नहीं लिखते। बाप-बेटा, दूर-दूर तीन छः बर्ष हुए हैं। जमाना हो गया एक दूसरे को देखे हुए' मिलना मिलाना तो अलग चिट्ठी-पत्री तक नहीं होती।

इस संसार का निकटतम सम्बन्ध, सबसे पवित्र सम्बन्ध, प्रेम और रक्त का सम्बन्ध, अटूट सम्बन्ध…पर पिता-पुत्र में अब अन्तर ही अधिक था। और पुत्र…?

पिता का नाम लक्ष्मय्या है, और लड़के का कृष्णमूर्ति। ग्राम पास के इलाके में लक्ष्मय्या काफी जाना-पहचाना है। कभी अच्छा खाता-पीता परिवार था। अब बस, गुजारा होता है। कभी कुछ है, तो कभी कुछ नहीं है, तरंगों का बनता-घटता रिश्ता। उसकी उम्र थी पचपन-साठ की।

जब पिता को पुत्र की सहायता की आवश्यकता है, वह अकेला था, असहाय। "बेटे न होंगे तो बुढ़ापे में कौन देखेगा?" जवानी में उसने भी कहा था, "हर बेटेवाला कभी न कभी यह कहता है। बेटे भी बाप बनकर यही कहते हैं "मगर"।

लक्ष्मय्या की झोपड़ी सूनी है, नहर के किनारे। अब भी एक-डेढ़ एकड़ की खेती होती है, पर उसकी आमदनी उस तक नहीं पहुँचती।

तब न ?

और इस बीच इधर-उधर का गोल-माल करके, रंगनायन ने उसका पैसा, उसका घर वगैरह सब हथिया लिया था। कोई प्रेम पर पगलाये तो पगलाये, उसकी आय का रास्ता क्यों बन्द हो ? चन्द्र-शेखर इधर प्रेम में असफल रहा, उधर पेशे से भी गया, और गरीबी की मुसीबत अलग से मोल ले बैठा। पद्मा स्वप्न मात्र-सी रह गई।

वह गली-गली मारा-मारा फिरता। सब कहते कि वह प्रेम का मारा था। उसके सच्चे प्रेम पर विश्वास करते। पर उस विश्वास से तब फायदा ही क्या था, जब उसकी जिन्दगी ही पटरी से उलट गई थी।

चन्द्रशेखर हाय-हाय करता, किस्मत को लेकर रोता। और वे ही लोग जो उसको सुनने के लिये आतुर रहा करते थे, उसको पियक्कड़ बताकर उसको अनसुना करके चले जाते। पद्मा के पिता का ख्याल था, कि वह अभिनय अब रंगमंच पर न करके, रंगमंच के बाहर कर रहा था।

—:.:—

पितृदेवो भव

"खुद पिता हो गया है, बच्चों वाला है, अब तो समझो···" कई बार ये बातें उसके मन में आईं। लगातार आती रहती है।

वह उनको चिट्ठी लिख सकता है, वह उनको लिख सकता है ·· पर दोनों ही नहीं लिखते। बाप-बेटा, दूर-दूर तीन छः बने हुए हैं। *जमाना हो गया एक दूसरे को देखे हुए · मिलना मिलाना तो* अलग चिट्ठी-पत्री तक नहीं होती।

इस संसार का निकटतम सम्बन्ध, सबसे पवित्र सम्बन्ध, प्रेम और रक्त *का सम्बन्ध, अटूट सम्बन्ध···पर पिता-पुत्र में अब अन्तर ही* अधिक था। और पुत्र···?

पिता का नाम लक्ष्मय्या है, और लड़के का कृष्णमूर्ति। आस पास के इलाके में लक्ष्मय्या काफी जाना-पहचाना है। कभी अच्छा खाता-पीता परिवार था। अब बस, गुजारा होता है। कभी कुछ है, तो कभी कुछ नहीं है, तंगी का बनता-बढ़ता किस्सा। उसकी उम्र थी पचपन-साठ की।

जब पिता को पुत्र की सहायता की आवश्यकता है, वह अकेला था, असहाय। "बेटे न होंगे तो बुढ़ापे में कौन देखेगा?" जवानी में उसने भी कहा था, "हर बेटेवाला कभी न कभी यह कहता है। *बेटे भी बाप बनकर यही कहते हैं · मगर···*।

लक्ष्मय्या की झोपड़ी सूनी है, नहर के किनारे। अब भी एक-डेढ़ एकड़ की खेती होती है, पर उसकी आमदनी उस तक नहीं पहुँचती।

झोंपड़ी गाँव से वाहर है। दो-ढाई मील के घेरे में कोई गाँव भी नहीं है।

वुढ़ापा, तिस पर अकेलापन,...और कोई सजा भगवान देगा भी तो क्या देगा, और वदनामी...लड़के ने ही न समझा, दुनिया क्या समझेगी ?

कृष्णमूर्ति वहाँ न था, वह कहीं दूर उत्तर भारत में था। उसने अपना अलग घर वसा लिया था। काफी आमदनी होती थी। जिस मिट्टी में वह पैदा हुआ था, उससे अब उसका कोई सम्बन्ध न रह गया था। पिता-पुत्र के सम्वन्ध में कितने ही कर्त्तव्य होते हैं, कितने ही उत्तरदायित्व.. होते होंगे अपनी वला से, ष्णमूर्ति ने कभी उनके बारे में न सोचा था।

वह बुरा नहीं है, उसने जो कुछ किया है. औचित्य के नाम पर किया है, लोक-लज्जा के नाम पर, नैतिकता के नाम पर, आज वह पिता से दूर है, पिता की परवाह नहीं करता है, तो भी वह अपने को दोषी नहीं समझता है। उसकी अपनी नैतिक धारणायें हैं, मान्यतायें हैं।

पिता लाख करे, शराव पिये, पैसा वरवाद करे,......पिता ही तो है ! यह उसको कभी न सूझा। वह एक कॉलेज में पढ़ाता है, विद्वान् है, पर पिता की उसको परवाह नहीं...हर कोई उसके वारे में यही कहता है।

"एक दिन वह आयेगा, तभी तो यह जिन्दगी अभी वाकी है..." वूढ़ा लक्ष्मय्या मन-ही-मन कहता। और अगर कोई भूला-भटका, उसकी झोंपड़ी के पास आता, तो उसे भी विठाकर यह वार-वार सुनाता।

आखिर वे अलग हुये क्यों ?

× × ×

तव कृष्णमूर्ति वहुत छोटा था पाँच-छः वर्ष का। उसके एक वहन

पैदा हुई और माँ प्रसव में गुजर गई। वह बड़ा घर सूना हो गया। गाँव में कितने ही लोग थे, रिश्तेदार हो बहुत थे, पर जब पत्नी न रही तो वे भी पराये-पराये से लगने लगे। जिसके साथ जिन्दगी चल रही होती है, यदि वह ही न रहे तो सारा संसार खाली सा लगता है। हर किसी के होते हुए भी आदमी अपने को अकेला पाता है यह प्रोफेसर कृष्णमूर्ति आज तक नहीं जानता।

तब लक्ष्मय्या जवान था, जवानी की हवश थी, ताकत थी। तीस-एकतीस का होगा। घर में माँ न थी, वह कभी की गुजर चुकी थी पिता न थे। उनको तो वह छुटपन ही में खो बैठा था। होने को रिश्तेदार थे, पर उन सबके अपने-अपने घर, घर-बार। कौन अपने बच्चों को छोड़कर उसके बच्चे पालने आये ?

बहुत जमीन-जायदाद न थी, दो-ढाई एकड़ जमीन थी। उसने स्वयं अपने पसीने से दिन-रात एक करके उसे कमाया था। मेहनत मशक्कत की कमाई। बचत की आदत। बच्चों की परवरिश के लिये नौकर-चाकर भी न रख पाता था। फिर नौकर बच्चों की देखभाल क्या करेंगे ? बच्चे तो भगवान की देन हैं, उपहार हैं। उपहारों की देखभाल क्या नौकर-चाकर करते हैं ?

पत्नी क्या गुजरी कि उसने सोचा कि उसका भाग्य ही विपरीत हो गया था। क्या-क्या सपने देखे थे, दस-पाँच एकड़ जमीन कमायेंगे, बच्चों को पढ़ायेंगे-लिखायेंगे, चैन-की जिन्दगी बसर करेंगे, और अब सपने मिट्टी में मिल गये। दो बच्चों की जिम्मेवारी छोड़ती गई।

एक उच्छृंखल स्वभाव, तिस पर छोटी उम्र और बच्चों की जिम्मेवारी। पत्नी की मृत्यु ने उसको एकाएक बुजुर्ग बना दिया। बूढ़ा-सा भी। संसार ने भी विमुख-सा कर दिया। जिसका सारा जीवन, पत्नी के भरोसे, उसके सहयोग और सहानुभूति के भरोसे चला हो, पत्नी का निधन उसके वैयक्तिक विनाश में परिणमित हो सकता है।

झोंपड़ी गाँव से बाहर है। दो-ढाई मील के घेरे में कोई गाँव भी नहीं है।

बुढ़ापा, तिस पर अकेलापन,...और कोई सजा भगवान देगा भी तो क्या देगा, और बदनामी...लड़के ने ही न समझा, दुनिया क्या समझेगी ?

कृष्णमूर्ति वहाँ न था, वह कहीं दूर उत्तर भारत में था। उसने अपना अलग घर बसा लिया था। काफी आमदनी होती थी। जिस मिट्टी में वह पैदा हुआ था, उससे अब उसका कोई सम्बन्ध न रह गया था। पिता-पुत्र के सम्बन्ध में कितने ही कर्त्तव्य होते हैं, कितने ही उत्तरदायित्व.. होते होंगे अपनी बला से, ष्णमूर्ति ने कभी उनके बारे में न सोचा था।

वह बुरा नहीं है, उसने जो कुछ किया है. औचित्य के नाम पर किया है, लोक-लज्जा के नाम पर, नैतिकता के नाम पर, आज वह पिता से दूर है, पिता की परवाह नहीं करता है, तो भी वह अपने को दोषी नहीं समझता है। उसकी अपनी नैतिक धारणायें हैं, मान्यतायें हैं।

पिता लाख करे, शराब पिये, पैसा बरबाद करे,......पिता ही तो है ! यह उसको कभी न सूझा। वह एक कॉलिज में पढ़ाता है, विद्वान् है, पर पिता की उसको परवाह नहीं...हर कोई उसके बारे में यही कहता है।

"एक दिन वह आयेगा, तभी तो यह जिन्दगी अभी बाकी है..." बूढ़ा लक्ष्मय्या मन-ही-मन कहता। और अगर कोई भूला-भटका, उसकी झोंपड़ी के पास आता, तो उसे भी बिठाकर यह बार-बार सुनाता।

आखिर वे अलग हुये क्यों ?

× × ×

तब कृष्णमूर्ति बहुत छोटा था पाँच-छः वर्ष का। उसके एक बहन

पैदा हुई और माँ प्रसव मे गुजर गई। वह बडा घर सूना हो गया। गाँव मे कितने ही लोग थे, रिश्तेदार ही बहुत थे, पर जब पत्नी न रही तो वे भी पराये-पराये से लगने लगे। जिसके साथ जिन्दगी चल रही होती है, यदि वह ही न रहे तो सारा ससार खाली सा लगता है। हर किसी के होते हुए भी आदमी अपने को अकेला पाता है · यह प्रोफेसर कृष्णमूर्ति आज तक नही जानता।

तब लक्ष्मय्या जवान था, जवानी की हवश थी, ताकत थी। तीस-एकतीस का होगा। घर में माँ न थी, वह कभी की गुजर चुकी थी पिता न थे। उनको तो वह छुटपन ही में खो बैठा था। होने को रिश्तेदार थे, पर उन सबके अपने-अपने घर, घर-बार। कौन अपने बच्चो को छोड़कर उसके बच्चे पालने आये?

बहुत जमीन-जायदाद न थी, दो-ढाई एकड़ जमीन थी। उसने स्वय अपने पसीने से दिन-रात एक करके उसे कमाया था। मेहनत मशक्कत की कमाई। बचत की आदत। बच्चो की परवरिश के लिये नौकर-चाकर भी न रख पाता था। फिर नौकर बच्चो की देखभाल क्या करेंगे? बच्चे तो भगवान की देन है, उपहार हैं। उपहारो की देखभाल क्या नौकर-चाकर करते है?

पत्नी क्या गुजरी कि उसने सोचा कि उसका भाग्य ही विपरीत हो गया था। क्या-क्या सपने देखे थे, दस-पाँच एकड जमीन कमायेंगे, बच्चों को पढायेंगे-लिखायेंगे, चैन की जिन्दगी बसर करेंगे, और अब सपने मिट्टी मे मिल गये। वो बच्चो की जिम्मेवारी छोड़ती गई।

एक उच्छृखल स्वभाव, तिस पर छोटी उम्र और बच्चो की जिम्मेवारी। पत्नी की मृत्यु ने उसको एकाएक बुजुर्ग बना दिया। बूढ़ा-सा भी। ससार ने भी विमुख-सा कर दिया। जिसका सारा जीवन, पत्नी के भरोसे, उसके सहयोग और सहानुभूति के भरोसे चला हो, पत्नी का निधन उसके वैयक्तिक विनाश मे परिणमित हो सकता है।

लक्ष्मय्या देखने को पूरा आदमी था, पर वेचारा टुकड़े-टुकड़े हो गया था। कृष्णमूर्ति बड़े लड़कों को पढ़ाता है, पर अपने पिता की उस अवस्था की शायद कल्पना भी नहीं कर सकता था।

बच्चे वाले वाप भी, बच्चों की परवरिश के लिये दूसरी शादी कर लेते हैं। और लड़की वाले बच्चों वालों को भी अपनी लड़की दे देते हैं, भले ही चौवीस घण्टे वाद उनके घर ओले गिरें, विजली गिरे।

लक्ष्मय्या देखने में खराव न था, कंगाल भी न था। अमीर न सही, मेहनती आदमी, जमीन थी ही, खाने के तो लाले पड़ते ही न। क्या हो गया अगर दो वच्चे थे, वच्चे हों तो हों, अपनी लड़की के भी तो वच्चे होंगे, ····· ···यह सोचने वाले गाँव में कई लड़कियों के वाप थे।

पाँच-दस लड़की वालों ने लड़की देनी चाही, लक्ष्मय्या ने शादी करने से साफ इन्कार कर दिया, "शादी का मजा भी एक वार लिया जाता है, इस जिन्दगी में। वस वह खत्म।"

अगर कोई लम्वी-चौड़ी दलीलें देता तो कहता, वच्चों को खोकर पत्नी पायी भी तो क्या पाया? लाख कहो, दूसरी शादी हुई कि नहीं, पहली शादी के वच्चे अपने नहीं रहते। पहली पत्नी के वच्चे हैं, इसलिये दूसरी पत्नी भी पति पर हुकूमत करती है, उसको पूरी तरह अपना नहीं पाती, कितनों की गृहस्थी यों मिट्टी नहीं हुई है?

पर कितने ऐसे भी तो हैं जो दूसरी शादी करके जिन्दगी में मजा कर रहे हैं। सव स्त्रियाँ एक साँचे में ढली हुई नहीं होतीं······ दलीलें देने वाले कहते। लक्ष्मय्या चुप रहता, दलीलें जवर्दस्त हों, पर उसका निश्चय वदलने की उनमें क्षमता न थी।

अव भी जव कभी लक्ष्मय्या को पुराने दिनों की वरवस याद आती है, तो तीस-पैंतीस साल पहले की वह दुखद घटना इस

तरह सामने आती है, जैसे कल ही गुजरी हो''.....वह पीपल का पेड़, गाँव का चौराहा, चबूतरा, और वेन्कटय्या''......उस बेचारे को गुजरे भी तो अब सालों हो गये हैं। उसने कहा था, "अरे कितनों की पत्नी गुजर गई है। सब क्या तुम्हारी तरह ही दुनिया से रूठे-रूठे बैठे हैं? घर में चिराग कौन जलायेगा? कौन खाना पकायेगा? खिलायेगा? कौन तेरी देखभाल करेगा? तू बीमार पड़ेगा तो तेरी सेवा-सुश्रूषा कौन करेगा? यह जिन्दगी मुश्किल है, कैसे अकेला काटेगा? ...... और अब उसकी पत्नी भी नहीं है, लम्बा रास्ता, चिर एकाकीपन।

लक्ष्मय्या शादी कर सकता था, पर उसने न की। उसने वे सब काम स्वयं किये जो एक माँ करती है। दो बच्चे,...... ...एक लड़का, कृष्णमूर्ति, एक लड़की, सीता। भगवान ही जानते है कि उसने उनके लिये क्या नहीं किया!

वेन्कटय्या की कृपा कि कृष्णमूर्ति पढ़-लिख भी गया। उसके पास धन दौलत न थी, गुजारा ही होता था, घर का काम काज नहीं होता तो इधर-उधर के काम करके और कुछ रुपया-पैसा भी बनाता। वह भी न कर सका। हर कोई कहता "बावला है, शादी कर ले तो ये सब मुसीबतें खत्म हो" मगर लक्ष्मय्या कहता, "कौन जाने कितनी और मुसीबतें भी आ पड़ें।"

वेन्कटय्या खास धनी न था, दिल वाला था, थोड़ी बहुत जमीन थी। बाल-बच्चे न थे। बाप-दादा का दिया हुआ कुछ पैसा था। खर्च खास न थे। लक्ष्मय्या उसका बचपन का यार था, उसके लड़के की शिक्षा के लिये उसने काफी सहायता की। कृष्णमूर्ति को कम-से-कम इसका ख्याल तो होता!

कृष्णमूर्ति की शिक्षा एक प्राचीन संस्था में हुई, जहाँ नैतिकता पर अधिक जोर था, रहन-सहन भी प्राचीन मूल्यों पर होता। ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता, नित्य नियम से सन्ध्या हवन भी होता......

कहने का मतलव, वह ऐसे वातावरण में पला था, जिसमें उच्च सिद्धान्तों का अपना विशेष महत्व होता है...... उनका विवेचन व्यक्ति की स्वाभाविक दुर्बलताओं की पृष्ठभूमि में सहानुभूतिपूर्वक नहीं किया जाता।

सीता वड़ी हुई, वड़ी लड़कियों के लिये कई वाते ऐसी करनी होती हैं, जो मां तो आसानी से कर सकती है, पर पिता नहीं। सीता सयानी हुई, और लक्ष्मय्या की कठिनाइयाँ वढ़ीं, और उलझीं।

तव वेन्कटय्या की पत्नी, जम्मा, उसकी मदद करने उसके घर आने लगी। शुरू में शायद वेन्कटय्या ने उसको भेजा था, वाद में वह शायद लक्ष्मय्या से व उसकी लड़की से इतनी प्रभावित हुई कि वह स्वयं आने लगी।

वेन्कटय्या की मेहरवानी से सीता की शादी भी तय हो गई। वेन्कटय्या से जितना वन सका, उसने लक्ष्मय्या की सहायता की।

कृष्णमूर्ति घर में था नहीं, और सीता की शादी हो चुकी थी। घर सूना सा लगता था। कहने वालों ने फिर कहा "अरे भाई अव तो शादी कर लो, वच्चे अपनी जगह हैं ही, कव तक यों विधवाओं की तरह जिन्दगी काटोगे?"

तव लक्ष्मय्या ने कहा था, "अरे भाई अव तो जवानी भी गई; शादी करके क्या करेंगे, एक वार शादी करके देख ली, वस...... "

फिर जाने क्या विधि को सम्मत था। गर्मियों के दिन थे। वेन्कटय्या खेत से वापिस आ रहा था कि मेंढ से फिसला, और वह ठंडा हो गया। किसी ने कहा साँप ने काटा होगा, किसी ने कहा कि लू लगी होगी। किसी ने कहा उसने जहर निगल लिया था क्योंकि उसको पत्नी का लक्ष्मय्या के घर जाना पसन्द न था। जिन्दगी भर उसकी मदद की। मर कर भी उसका भला करता गया। और भी वहुत सी अफवाहें उड़ीं। पर दो वातें साफ थीं, कारण कुछ भी रहे हों। एक वेन्कटय्या जीवित न था, और दूसरा उसकी पत्नी वदनाम

हो गई थी। लक्ष्मय्या को ही दोषी ठहराया गया, गांव ने उसे बहिष्कृत सा कर दिया।

वेन्कटय्या की पत्नी इस हालत में क्या कर सकती थी? यह सच था कि वह लक्ष्मय्या के घर आया-जाया करती थी, पर यह झूठ था कि उसका उनके साथ किसी प्रकार का यौन सम्बन्ध था। लाचारी थी, क्या मुँह लेकर मायके जाती? फिर पति की जमीन-जायदाद की देखभाल कौन करता? मरना भी तो आसान नहीं है!

दोनों एक ही घर में रहने लगे। क्यों न लक्ष्मय्या उस स्त्री की सहायता करे, जिसने बदनामी की भी परवाह न करके, उसकी 'सहायता की थी? वह मित्र की पत्नी है, और वह इस असहाय अवस्था में हो तो उसको अकेली कैसे छोड़ दे?

दिन बीतते गये। उनमें घनिष्ठता बढ़ी। जिस सम्बन्ध के बारे में पहले ही बदनामी थी, वह भी हुआ। विवाह संस्कार के बाद पति पत्नी भी बने।

इसी तरह कई साल कट गये। लक्ष्मय्या अपने मित्र की जमीन-जायदाद देखने में हिचकता, नौकर-चाकर घुमा-फिरा कर ताना कसते। ग्राम का असहयोग था ही, खेती भी ठीक तरह न करवा सका। फिर वेन्कटय्या के रिश्तेदारों ने जमीन के लिये मुकदमा दायर कर रखा था।

दुनिया कुछ भी सोचे, कुछ भी कहे, लक्ष्मय्या ने जो सुख उस स्त्री से पाया था, पहले कभी न पाया था। हो सकता है कि उसे यह अनुभव इसलिये हुआ हो, क्योंकि उसने बहुत समय दुःख ही दुःख झेले थे।

मुकदमे में फैसला उसके विरुद्ध हुआ। वेन्कटय्या के रिश्तेदार उसके घर में रहने लगे। फिर उन्होंने लक्ष्मय्या को इतना तंग किया कि गांव छोड़कर उसे खेत में, नहर के 'किनारे, झोपड़ा बनाना पड़ा।

पढ़-पढ़ा कर कृष्णमूर्ति आया, वह पंडित बना था। कितने ही शास्त्र उसकी जबान पर थे। पिता के कारण उसका अपमान हुआ, अवहेलना हुई। पिता उसकी प्रतीक्षा में बैठा था, उसने उसकी बहुत देखभाल की, आवभगत की। जगम्मा ने उसको आदर की दृष्टि से देखा, पर कृष्णमूर्ति ने उसकी उपेक्षा की। आखिर वह चिढ़ गई। सहने की भी हद होती है।

कुछ दिन यूँ ही इस तरह की खींचातानी में कटे। बाप-बेटे में प्रायः चुप्पी ही रहती। अगर कभी पिता उससे बात भी छेड़ता तो वह ऊटपटाँग उत्तर देता। इतने बेअदब जवाब, कि कभी-कभी लक्ष्मय्या भी बिगड़ उठता।

नौबत यह आई कि कृष्णमूर्ति पिता के मुँह पर कह कर चला गया—"इस व्यभिचारी के साथ कौन रहे? इस कुलटा के हाथ का कौन खाये?" उसने जो नीतिशास्त्र पढ़ा था, उसमें शायद मानवीय दुर्बलताओं, और परिस्थिति की विवशताओं पर विचार करने-कराने का अनिवार्य आदेश न था। वह फिर घर वापिस न आया।

× × × ×

अब जगम्मा भी नहीं है, लड़की ससुराल है, अपना घरबार चला रही है, और लक्ष्मय्या अकेला है, नितान्त एकाकी। कभी दुःख में, कभी क्रोध में बड़बड़ाता भी है। और उसका पुत्र?

कृष्णमूर्ति किसी कालेज में, मेज ठोक-ठोक कर नीतिशास्त्र पढ़ा रहा है। प्रायः वह पितृदेवो भव की व्याख्या करता है। न मालूम कब पिता का रोना उस तक पहुँचेगा? शायद न पहुंचे, और इस बीच, लक्ष्मय्या की जिन्दगी ही गुल हो जाये।

पढ़-पढ़ा कर कृष्णमूर्ति आया, वह पंडित बना था। कितने ही शास्त्र उसकी जबान पर थे। पिता के कारण उसका अपमान हुआ, अवहेलना हुई। पिता उसकी प्रतीक्षा में बैठा था, उसने उसकी बहुत देखभाल की, आवभगत की। जगम्मा ने उसको आदर की दृष्टि से देखा, पर कृष्णमूर्ति ने उसकी उपेक्षा की। आखिर वह चिढ़ गई। सहने की भी हद होती है।

कुछ दिन यूँ ही इस तरह की खींचातानी में कटे। बाप-बेटे में प्रायः चुप्पी ही रहती। अगर कभी पिता उससे बात भी छेड़ता तो वह ऊटपटाँग उत्तर देता। इतने बेअदब जवाब, कि कभी-कभी लक्ष्मय्या भी बिगड़ उठता।

नौबत यह आई कि कृष्णमूर्ति पिता के मुँह पर कह कर चला गया—"इस व्यभिचारी के साथ कौन रहे? इस कुलटा के हाथ का कौन खाये?" उसने जो नीतिशास्त्र पढ़ा था, उसमें शायद मानवीय दुर्बलताओं, और परिस्थिति की विवशताओं पर विचार करने-कराने का अनिवार्य आदेश न था। वह फिर घर वापिस न आया।

× × × ×

अब जगम्मा भी नहीं है, लड़की ससुराल है, अपना घरबार चला रही है, और लक्ष्मय्या अकेला है, नितान्त एकाकी। कभी दुःख में, कभी क्रोध में बड़बड़ाता भी है। और उसका पुत्र?

कृष्णमूर्ति किसी कालेज में, मेज ठोक-ठोक कर नीतिशास्त्र पढ़ा रहा है। प्रायः वह पितृदेवो भव की व्याख्या करता है। न मालूम कब पिता का रोना उस तक पहुँचेगा? शायद न पहुँचे, और इस बीच, लक्ष्मय्या की जिन्दगी ही गुल हो जाये।

घर में सयानी बैठी थी, सबको मैट्रीक्युलेशन तक पढ़ाया था, बड़ी की एक अच्छे जाने-माने परिवार में शादी तय की थी कि इतने में घर पर यह गाज-सी गिरी··· सेंध-सी लग गई। परन्तु राधाकृष्ण निश्चिन्त थे······असाधारण विद्वानों वाली निश्चिन्तता, निश्चिन्तता।

वे बैठे हुये थे। उनके सामने इधर-उधर पुराने कपड़े पड़े थे। नये कपड़े जो शादी के लिये खरीदे गये थे, वे न थे। वे चोरी चले गये थे। जो पाँच-दस गहने बनवाये थे, वे भी न थे। कागज वगैरह भी बिखरे पड़े थे। अलमारी खाली थी, और कमरे में जगह-जगह कितनी ही चीजों के ढेर थे। एक कोने में विवाह के निमन्त्रण पत्र पड़े थे। कोई और होता, अगर कुछ न कर पाता तो रो ही पड़ता। मगर राधाकृष्ण तो किसी और धातु के बने थे।

सिर्फ माल ही चोरी न गया था, तीन हजार रुपया भी जिसे शादी के लिये उन्होंने कर्ज लिया था, नदारद था। बड़ी दौड़-धूप के बाद यह रुपया जमा किया था। इतना सब हो गया था, पर उन्होंने पुलिस में शिकायत न की थी, पत्नी के कहने-कोसने, कुढ़ने के बावजूद भी।

अब क्या किया जावे? घर में पैसा न था। सब चोरी हो गया था। बिना पैसे के शादी न हो सकती थी, फिर उस घर में शादी हो भी कैसे जहाँ सब-कुछ लुट गया हो। किन्तु राधाकृष्ण का मन कहता लगता था ··· ··भगवान मेरी परीक्षा कर रहे हैं।

वे एकाएक उठे, सिर नीचा किये किये, जैसे रोज जाते थे, वैसे मन्दिर में गये। कुछ देर ध्यानमग्न में बैठे रहे। फिर पोस्ट आफिस जाकर वर के घर तार दे दी कि विवाह स्थगित कर दिया जावे। बाद में उनको लम्बी चिट्ठी भी भेज दी।

घर आये तो अकेले बड़े रहे ''पत्नी और बच्चे जहाँ तहाँ बैठे थे। मगर राधाकृष्ण अपने कमरे में छत की ओर देखते इस तरह मुस्करा रहे थे जैसे किसी देवता की शुभ आकाशवाणी सुन रहे हों।

राधाकृष्ण मुस्करा दिये······मीठी, नादान मुस्कराहट ।

"अब क्या करोगे ?" पत्नी चिल्लाई ।

"सब भगवान की दया है ।"

"आप भगवान, भगवान करते रहोगे, और यहाँ पटी-पटाई शादी···हाय भगवान··!" उनकी पत्नी कुछ न कह सकी । वे अपने कमरे में चली गई । वे उबल रही थीं ।

राधाकृष्ण उस लकीर पर न चलते थे, जिस पर आँखें मूंदकर और लोग चलते है, इसलिये उनको सनकी कहा जाता था, बावला बताया जाता था । घुमा फिरा कर पागल बताया जाता था,······ आदमी जरूर अपने ढंग के थे ।

एम० ए० पास थे । सरकारी नौकर, मगर भेस-लिबास वही दहाती, विचार भी दकियानूसी । न फैशन का शौक, न क्लब की लत । न प्रोमोशनों का पागलपन, न शेखी मारने की आदत, हमेशा चुप-से रहते । न रौब, व धौंस । बस, काम से काम । घर से दफ्तर, दफ्तर से घर, दोनों से जब फुरसत मिलती तो पास के मन्दिर में ।

राधाकृष्ण को भगवान पर बड़ा भरोसा था । पूजा-पाठ तो विशेष नहीं करते थे, न भक्ति का अनुष्ठान होता, न प्रदर्शन ही, पर उनका व्यवहार कुछ ऐसा रहता जैसे वे निमित्त मात्र हों, अनासक्त हों · यहीं वे औरों से भिन्न थे । मामूली न रहकर गैर-मामूली हो जाते थे ।

शहर में कोई साधु-सन्त आता, तो न मालूम कैसे वह उनका पता मालूम कर लेता, और उनका आतिथ्य पाता । किसी संस्था को कुछ जरूरत होती तो उनकी सहायता माँगती । पूरी पाँच सौ पचास की तनख्वाह पाते थे, मगर महीने के अन्त में एक पाई न बचती । और तो और दुनिया भर के कर्ज हो जाते । न बैंक में पैसा, न घर में·· इतना कमाते हुए भी कंगाल से लगते ।

बड़ा परिवार था, लड़कियों वाला परिवार, तीन लड़कियां

कह पाया।

"क्यों, क्या हो गया भाई ? सब ठीक है न ?" राधाकृष्ण की उत्सुकता जगी।

"इन कम्बख्त हाथों ने ऐसा काम किया है कि बिना जेल जाये, पछतावा न होगा। मुझे सजा मिलनी चाहिये·······।"

"आखिर बात क्या है ?"

"आपके घर शादी होती, यदि मैं यह सब नहीं करता। माफ करो, मैं आपकी एक-एक पाई चुका दूंगा··· पुलिस वालों को मुझे सौंप दो ! नहीं बाबू, मैं सजा भुगतना चाहता हूँ ···"

"आखिर किस बात की ?"

"कहते भी नहीं बनता, मैं शर्मिन्दा हूँ। लाचार था, बाबू, लड़कियों का बाप हूँ, एकदम मजबूर ! आप ही हैं, जो मेरी दिक्कतें जान सकते हैं। मेहरबानी करके ·····।"

"अरे भाई, हम तो खुद खाली जेब बैठे हैं, घर में कुछ भी तो नहीं है ! जो कुछ था, वह चोरी चला गया। मैं भला कैसे मदद कर सकता हूँ··· " राधाकृष्ण कहते-कहते मुस्करा दिये।

"साहब मैंने चोरी की थी, चोरी करने वाला मैं हूँ। मुझे माफ करो··· " मनोहर अभी अपना वाक्य पूरा न कर पाया था कि राधाकृष्ण ने विचित्र अट्टाहस किया। उनकी पत्नी आ गई। माँ की देखा-देखी लड़कियाँ भी आ खड़ी हुई, कुतूहलवश, क्रोधवश।

"साहब मैंने गलती की। आप तो ऐसे भगवान हो कि मैं माँगता और आप दे देते······मैं आपकी एक-एक पाई दे दूँगा···" मनोहर ने श्रीमती राधाकृष्ण को देख अपनी पहली बात दुहराई।

"माँ जी, माफ करो, पैरों पड़ता हूँ, बेटी तुम भी माफ करो ! बाबू जी को रोज मैं मन्दिर में आता-जाता देखता हूँ। उनसे अच्छी तरह वाकिफ नहीं हूँ, पर उनके स्वभाव को जानता हूँ। मैंने सोचा कि यहाँ एक आदमी है, जिसके घर में चोरी भी करूँगा तो

कुछ न कहेगा। बाबू मैं आपको ठगना नहीं चाहता था, ठगकर जिन्दा न रहूँगा। कुत्ते की मौत मरूँगा, कीड़े की तरह जिन्दगी भर सड़ूँगा ·····! आप जैसे नेक आदमी का बुरा करके मैं नरक भी न जा पाऊँगा······।"

"हूँ," श्रीमती राधाकृष्ण ने लम्बी साँस लेते हुए कहा। उस समय उनके हाथ में मूसल होता तो उसके सिर पर दे मारतीं।

"अब काम हो गया है, मैंने लड़की के हाथ पीले कर दिये हैं। लड़का दो हजार माँगता था। बाबू हम गरीबों के यहाँ दो हजार रुपये कहाँ से आयेंगे······पढ़ा-लिखा लड़का फिर कहाँ मिलेगा? क्वारी लड़की को कितने दिन घर रखता! अब काम हो गया है और मैं सजा भुगतने के लिये तैयार हूँ।"

"तूने अपनी लड़की की शादी कर दी और यह न सोचा कि हमारे घर की शादी क्या होगी? यह भी न सोचा कि जिसको तुम आज भला कर कहने को रहे हो, उसकी लड़की का क्या होगा?" राधाकृष्ण की पत्नी. गुस्से में काँप रही थीं।

"माफ कीजिये, मैंने बड़ा कसूर किया है। मैं गुनाहगार हूँ··· मुझे जेल भिजवा दीजिये।" वह श्रीमती राधा ष्ण के पैरों पड़ा।

"दीजिये न पुलिस को इत्तिला!" पत्नी ने कहा। ऊँची आवाज में।

राधाकृष्ण मुस्करा दिये। उनकी पत्नी और चिढ़ गई। मनोहर न होता तो न जाने क्या कह बैठती!

"मालकिन मैं आपका एक-एक पैसा दे दूँगा, जेल से आऊँगा और मैं इसी काम में जुट जाऊँगा।" मनोहर कह रहा था, न उसकी आवाज रुँधी हुई थी, न आँखों में तरी थी। मन की बात कहकर वह अपने को हलका अनुभव कर रहा था।

राधाकृष्ण उठे। उसकी पीठ थपथपाते हुए उसको फाटक तक ले गये। "जाओ आराम से सोओ! जो हो गया सो हो गया, चोरी

नहीं किया करते। मैं पुलिस वगैरह किसी को नहीं कहूँगा, जाओ।" राधाकृष्ण उसको इस तरह भेज आये, जैसे घर के अतिथि को छोड़कर आ रहे हों। मनोहर रो रहा था, सिसक रहा था, गद्-गद् स्वर, ...कहता भी तो क्या कहता !

उस दिन राधाकृष्ण से उनके घर वालों ने बातचीत न की। पत्नी तो आपे से बाहर हो रही थी, बच्चे नाराज। "पिताजी अजीब बुद्बुक हैं, चोर आया और पुलिस को कहा भी नहीं ? छोड़ दिया..." वे यदि कह पातीं तो शायद कहतीं।

राधाकृष्ण गायत्री जपते-जपते सो गये। फिर उसी तरह जैसे कुछ हुआ ही न हो......मामूली आदमी की ये ही तो गैर-मामूली हरकतें थीं, जो दूसरों को हैरान कर देती थीं। हैरत में लोग उनको सनकी कह उठते थे। खैर !

सवेरा हुआ। कपड़े पहन पहनाकर, राधाकृष्ण दफ्तर जाने के लिये तैयार थे कि डाकिये ने एक पत्र लाकर दिया। पत्र उनके होने वाले समधी का था। लम्बा था। सारांश था......उनका लड़का, शादी से पहले ही किसी लड़की को अपना दिल दे चुका था, उसका दिल उससे हटाने के लिये ही शादी की बात सोची गई थी। उसको सरोजा......राधाकृष्ण की लड़की, से शादी पसन्द न थी। वह उस लड़की को लेकर, घर से सात हजार रुपया लेकर कहीं चला गया है। शायद बम्बई, जहाँ कुछ शौकिये लोग जमीन पर रहते हों, चान्द-सितारों में विहारने लगते हैं। यही वजह है कि आपके घर बारात न आ सकेगी। कैसे आये ? हम शर्मिन्दा हैं, हमें माफ करें। शायद जो भगवान करते हैं, ठीक करते हैं......अन्यथा न समझें......"

राधाकृष्ण ने पत्र तिपाया पर डाल दिया और इस मामूल ढंग से पत्नी को पुकारा, जैसे वह कोई असाधारण पत्र न होकर, कोई साधारण सरकारी चिट्ठी हो...... "सरोजा की माँ, सरोजा

की माँ, इधर तो आओ !" वह न आई, हाँ भी न कहा, नाराज जो थीं।

राधाकृष्ण ही उनके पास गये, "ये लो, चिट्ठी है, पढ़ लो, सब मालूम हो जायेगा, कि अगर भगवान कुछ करते हैं तो क्यों करते हैं......जो हो सो भला।"

उन्होंने चिट्ठी पत्नी के हाथ में दी। छाता बगल में रखा और मुस्कराते-मुस्कराते धीमे-धीमे गली में गये और गली में से रोज की तरह दफ्तर पहुँचे।

काम में राम

रंगय्या गाँव का बड़ा आदमी नहीं था। उसकी गिनती शायद छोटों में भी नहीं होती थी। वह शायद एक रहस्य-सा था। ऐसा था कि गाँव के मुखिया की नजर हमेशा उस पर रहती।

रंगय्या के पुरखे भी बड़े न थे—ये ही मेहनत करके मर-मर कर जीने वाले लोग। और वे भी गुजर चुके थे। न उन्होंने ही जमीन-जायदाद विरासत में पाई थी, न वे रंगय्या को कुछ दे गये थे। गरीब, मरे-पिटे लोग !

रंगय्या का कभी घर के नाम पर एक झोंपड़ा था। और वह भी तीन साल पहले गरमियों में जलकर राख हो गया था। तब से वह कहाँ रह रहा था, कैसे रह रहा था, किसी को ठीक तरह पता न था। कभी वह किसी के घर के आँगन में सोता, तो कभी किसी पेड़ के नीचे बने चबूतरे पर, नहीं तो गाँव के उजड़े टूटे-फूटे मन्दिर में।

उसको काम-धाम भी कुछ न था। कभी सवेरे से शाम तक कुछ मजदूरी करता, तो कभी कई दिनों तक काम छूने का नाम न लेता। कभी खाता तो कभी न खाता। खा-पीकर कभी या तो सो रहता, नहीं तो नहर पर मटरगश्ती करता।

गाँव का हर आदमी करीब-करीब उसे जानता था। किसी को उस पर दया आती थी तो किसी को गुस्सा आता था। गाँव की स्त्रियाँ यदि कोई त्योहार होता तो उसको बुलाकर इस तरह खाना परोसती—जैसे वह भी घर का आदमी हो। उसका कोई न

था, इसलिये उसको कई आत्मीय समझते थे। चूँकि उसको कोई काम-धाम न आता था, न वह कोई काम-काज करताधरता ही था, इसलिये उसको कई आवारा भी समझते थे।

उसकी उम्र कोई बीस-बाईस की थी। इकहरा बदन, सूखा-सूखा-सा, ऊँचा कद, मगर दुबला पतला-सा। तिकोने-से चेहरे में बस आँखें ही आँखें दिखाई देती थीं। बदन पर अगर साफ कपड़े होते तो वह भी खूबसूरत मालूम हो सकता था। बिल्कुल काला अक्षर भैंस बराबर। पर सूझ-बूझ में बड़ा तेज। अक्ल पैनी।

एक-दो बार हवालात भी देख आया था। पर उसकी चाल-ढाल से, हाव-भाव से, कोई उसको गुण्डा नहीं कह सकता था। शायद वह था भी नहीं। हो सकता है कि वह शरारती हो। मालूम नहीं। उसे देखकर कुछ भी तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता था।

बड़े विनय से, मीठे-मीठे ढंग से बातें करता। उद्दण्डता के कोई लक्षण नहीं। गाँव के बड़ों को झुक-झुक कर नमस्कार करता, पर हर किसी की मदद करता। गाँव में जब कोई बीमार पड़ता तो रंगय्या उसकी खटिया के पास पहले पहुँचता। किसी को कोई तकलीफ होती तो रंगय्या अपनी ओर से उसकी पूरी मदद करता। फिर भी लोग उसको बुरा और आवारागर्द ही बताते थे।

पिछले दिनों सुब्बय्या की गाड़ी रात को जब कस्बे से आ रही थी, तो किसी ने उसको लूट लिया, और सुब्बय्या को पीट-पाट दिया। तब हर किसी का यही अनुमान था कि यह रंगय्या की ही करतूत थी। सुब्बय्या ने स्वयं उसके खिलाफ शिकायत की थी। पुलिस ने रंगय्या को पकड़ा-धकड़ा, पर सबूत न मिलने पर उसको छोड़ छाड़ दिया। सच्चाई अब भी गाँव वालों से छुपी थी, और रंगय्या किसी को कुछ बताता नहीं लगता था।

इससे पहले एक और घटना हुई। तब से गाँव का मुखिया रंगय्या से चिढ़ा हुआ था। पर वह कुछ कर न पाता था।

मुखिया की कुछ बकरियाँ एक दिन पहाड़ी पर चर रही थीं कि उनमें से पाँच-दस एकाएक गायब हो गईं। शक किया गया कि रंगय्या ने ही उनको कस्बे में कसाई के यहाँ हांक दिया था।

और भी कितनी ही बातें थीं। एक बार किसी हरिजन को चोरी के मामले में पकड़ा गया और गाँव वाले जब उसको मार-मार कर धुन रहे थे तो रंगय्या सामने आया और मान गया कि उसने चोरी की थी। उसने चोरी का माल भी लौटा दिया। तभी लोग जान सके कि रंगय्या चोरी करता था।

पाँच-दस दिनों से रंगय्या नदारद था। जब वापिस आया तो उसने देखा कि गाँव के घरों के सामने छप्पर पड़े थे, एक लम्बी गली पर ऐसा लगता था, जैसे छत ही डाल दी गई हो। शायद कोई त्यौहार था। जब दो-चार घरों में उसको खाने के लिये भी बुलाया गया तो वह जान गया कि रामनवमी का त्यौहार था।

रंगय्या स्वयं कोई त्योहार नहीं मनाता था। भगवान के अस्तित्व के बारे में भी उसने न सोचा था। पूजा-प्रार्थना करके उसने कभी उसको रिझाने का प्रयत्न भी न किया था। वह धर्म के विषय में सर्वथा निरपेक्ष था।

रात को सोने के लिये जब मन्दिर पहुँचा तो वहाँ बड़ा-सा पण्डाल लगा था। लोग जमा थे और भजन-कीर्तन चल रहे थे। कई दिनों से वह सोया न था, पर उस गाने-बजाने के वातावरण में कैसे सोये। वह भी घूम फिरकर एक जगह बैठकर गाना सुनने लगा।

रंगय्या ने देखा सुब्बय्या भी मंच के पास बैठा-बैठा सिर हिला-हिला कर संगीत का आनन्द ले रहा था। रंगय्या की सुब्बय्या से नहीं पटती थी। वह गाँव का धनी व्यापारी था। सबसे बड़ा मकान उसका ही था। बाल-बच्चे न थे। सिर्फ दो प्राणी—पति, पत्नी।

रूखा-सूखा खाकर सुब्वय्या जिन्दगी बसर करता था। अपना निजी खर्च उसका बहुत कम था, जरूरतें भी बहुत कम थीं, पर उसका वही पुराना उसूल था, चमड़ी जाये पर दमड़ी न जाये। बड़ा लालची था। गाँव छोटा था। दुकान छोटी थी। व्यापार भी खास न था। पर उसने हजारों रुपया जमा कर रखा था।

उसके पास इतना सब कुछ था, पर उसके यहाँ कोई चीज भी बिना मिलावट के न मिलती थी। घी मिलता तो मिला हुआ, तेल मिलता तो मिला हुआ। हर चीज, वह नादान गाँव वालों को बढ़े-चढ़े दामों पर बेचा करता, तिस पर बड़ा कंजूस, चुगलखोर। रंगय्या की शिकायत वह अक्सर मुखिया से किया करता।

रंगय्या ने उससे बदला लेने की ठानी। वह उठा। औरतों की तरफ नजर दौड़ाई। सुब्वय्या की पत्नी भी, पान चबाती-चबाती संगीत में रमी हुई थी।

"यानी घर में कोई नहीं है।" रंगय्या ने सोचा। नौकर-चाकर तो सुब्वय्या के घर में कभी रहते नहीं थे। नौकरों की इल्लत तो वे पालते हैं जिनको अमीरी दिखानी होती है, या जो अमीरी का मजा चाहते हैं। सुब्वय्या की अमीरी तो, अमीरी के लिये ही थी। वह और तो और हमेशा गरीबी का दिखावा किया करता था।

रंगय्या धीमे-धीमे खिसक गया। सब इतने मस्त थे कि किसी को कोई सन्देह भी न हो पाया।

वह गली में गया। गली सुनसान थी। ऐसा लगता था जैसे सारा गाँव मन्दिर में जमा हो गया हो। चोर-चपाटों के लिये यही सबसे अच्छा मौका था।

सुब्वय्या का मकान गली से परे, इमली के पेड़ के बाद, स्कूल के पास था। रंगय्या उसके घर की ओर जा रहा था, और इमली के पेड़ के नीचे, गाँव का अन्धा, लूला, भिखारी राम के गुण गुनगुना रहा था। रंगय्या मन-ही-मन मुस्कराया।

"राम तो शायद उन्ही के लिये है, जिनको राम ने कुछ दिया है, मुझे और तुम्हे राम ने क्या दिया है ? चुप भी कर—" रंगय्या ने मन में सोचा । हमें जन्म तो दिया, पर जीने के लिये क्या दिया, माँ-बाप उठा ले गया, मारा-मारा फिरता हूँ । मैं क्यो तुम्हे याद करूँ ? रगय्या की दबी भावनाए सिर उठाने लगी ।

सुब्बय्या को पहाड़-सा धन दिया है, तो वह उजड़े मन्दिर मे बैठा-बैठा तेरा नाम भक्तिपूर्वक याद कर रहा है: करे । हाथ मे जब एक पैसा नही होगा और पेट मे चूहे कूदेंगे, तब देखूँगा कि वह राम को कोसता है, या रिझाता है ।

सुब्बय्या के घर ताला लगा था । रंगय्या के लिये ताले का होना कोई बडी समस्या न थी । कई बड़े-बड़े ताले उसने यूँ ही खोल दिये थे । वह इस हुनर में काफी माहिर हो गया था ।

वह घर के अन्दर गया । राम का बडा चित्र दीवार के साथ सटा था । उस पर फूल चढे हुए थे । मिठाइयाँ रखी हुई थी, और दो-चार चूहे उस चढ़ावे का पूरा आनन्द ले रहे थे, किसी की पूजा सामग्री, किसी और के लिये आहार । किसी का जमा जमाया धन, किसी और के लिये नही-नही मैं चूहा नही हूँ । मुझे ऐसी बाते नही सोचनी चाहिये । रगय्या ने सोचा ।

सिवाय चित्र के पास के टिमटिमाते दीप के घर मे कही कोई रोशनी न थी । रगय्या आगे बढा । किसी चीज से टकराया और गिरते-गिरते बचा । उसने वह दीप उठाया, उठा ही रहा था कि उसको चित्र के पीछे एक अलमारी दिखाई दी । उसने उसे खोला । एक थैली थी, और उसमे बहुत से नोट थे ।

उस धन को ही काफी समझकर उसको लेकर वह उस मकान से बाहर निकल आया । ताला पहले की तरह लगा दिया ।

तब भी गाँव सुनसान था । गली सुनसान थी । कही कोई चल-फिर न रहा था । पर भिखारी ने इस बीच एक और गाना शुरू

कर दिया था। गनीमत है कि यह कम्बख्त भिखारी अन्धा है, नहीं तो यह देख लेता……रंगय्या ने सोचा। यह भी ख्याल न करता कि जिनको दुनिया चोर करार देती है, उनको कोई कुछ काम नहीं देता, उनके सामने सिवाय चोरी के कोई और रास्ता नहीं रह जाता। आखिर चोर को भी तो जीना है! चोर को भी चोरी पसन्द नहीं है, पर और चारा ही क्या है?

रंगय्या यह सोचता-सोचता खेतों में निकल गया। उसने उस धन को कहीं गाड़ देना चाहा। फिर उसने सोचा कि क्यों न इसको मुखिया के घर में रखा जाये! मुखिया भी मन्दिर में बैठा-बैठा गाना सुन रहा है। मुखिया और सुब्बय्या फिर कुत्ते-बिल्ली की तरह लड़ेंगे। और मैं देख-देख कर खिल-खिला कर हँसूंगा। पर हो सकता है कि किसी को विश्वास ही न हो। हर कोई यह ही सन्देह करेगा कि यह मेरी करतूत है……नहीं, यह मैं नहीं करूँगा। फिर मैंने यह पैसा इसलिये तो नहीं लिया है कि मुखिया के घर में फेंक दूँ! सात-आठ दिन से मारा-मारा फिर रहा हूँ, कहीं ठीक खाना नहीं, सोना नहीं। मुझे भी तो सात-आठ महीने आराम से जीने का हक है! लोग कहते हैं कि अगर कोई गरीब और कोई अमीर है, तो इसलिये कि पैसे का बँटवारा ठीक नहीं होता। हम जैसे लोग दुनिया में न हों तो यह बँटवारा और भी विगड़ जाये। रंगय्या को न मालूम क्यों हँसी आयी।

फिर उसने सोचा कि खेत में क्यों गाड़ दिया जाये? क्यों न कस्बे भागा जाये? नहीं-नहीं, कस्बे नहीं। ये स्त्रियाँ गवाही देंगी कि मैं शाम यहीं था। अगर रात को भागा तो अनुमान किया जायेगा कि मैंने ही चोरी की है। यह अच्छी बला है, कस्बे नहीं जाऊँगा।

खैर, गाड़ने के लिये तो पैसा नहीं लिया था। मगर देखें तो यह है कितना रुपया! पास नीम के ऊपर एक मचान था। रंगय्या उस तरफ गया, वह मचान उसका परिचित था। गाँव के लड़के दिन

मे माँ-बाप की नजर बचाकर वहाँ बीड़ी-सिगरेट पीने आते थे। वह उस पर बैठ गया। और उसने नोटो को जो गिना तो वे पूरे दस हजार निकले। न एक पाई कम, न एक पाई ज्यादा। सुब्बय्या ने उनको शायद गिनकर ही रखा था।

रगय्या ने निश्चिन्त हो, सीटी बजानी शुरू की,……फिर न मालूम उसे क्यों डर लगा, अगर कही से कोई जानवर आ गया तो, …… ! यह डर रगय्या के मन मे अक्सर नही आता था; पर जब आता था, तो वह स्थिर न बैठ पाता था। वह मन्दिर जहाँ प्रायः अन्धेरा ही रहता था, उस दिन रोशनी मे चमक रहा था। उसको उस मचान से भी रोशनी दिखाई दे रही थी।

वह फिर मन्दिर की ओर गया। भीड जरा कम हो गई थी। फिर भी काफी लोग थे। सुब्बय्या था, और उसकी पत्नी थी। मुखिया और उसका परिवार था। रगय्या भी चुपचाप उनमे जा बैठा। न उनको किसी ने जाते देखा था, न आते ही। मँच पर अब भी कोई गा रहा था।

थोड़ी देर बाद गाना समाप्त हुआ। और लोग चले गये। रगय्या वही मन्दिर मे सो गया।

सवेरे उठा। यह यूँ ही गाँव मे निकल पड़ा। मगर कही भी यह नही कहा सुना जा रहा था कि सुब्बय्या के घर मे चोरी हो गई थी। रगय्या को अचरज हुआ। कही जिनको वह नोट समझ रहा था, वे निरे कागज तो न थे ! सुब्बय्या जो घी मे तेल मिला कर बेच सकता है, वह नोटो के साथ सफेद कागज भी मिलाकर रख सकता है। नही तो, वह जरूर हो-हल्ला करता !

रगय्या स्कूल की दीवार के पीछे गया। छुप-छुपा कर उसने फिर थैली के नोट देखे, अच्छे नोट थे बिल्कुल सरकारी। फिर क्यो नही सुब्बय्या ने हल्ला किया ? कही वह सीधे पुलिस के पास तो नहीं गया है ?

रंगय्या ने उसके घर में देखा। वह था नहीं, फिर खयाल आया कि वह हो-हल्ला इसलिये नहीं कर रहा था ताकि टैक्स वालों को न मालूम हो जाये कि उसके पास वेहिसाव का इतना पैसा है।

रंगय्या गली में इधर-उधर देखता निकला। कुछ दूर सामने सुब्बय्या सिर झुकाये जा रहा था। वह भी उसके पीछे-पीछे चला। सुब्बय्या मन्दिर में गया। मन्दिर सुनसान पड़ा था। त्यौहार की रौनक जा चुकी थी।

सुब्बय्या हाथ जोड़कर कहने लगा, "हे सिया राम, रघुवर, जो रुपये मैंने तुम्हारे मन्दिर की मरम्मत के लिये रखे थे, उन्हें कोई चुरा ले गया। प्रभुवर, मेरी रक्षा करो, मुझे शरण दो......।"

"क्यों सुब्बय्या सेठ, वे रुपये सचमुच तुमने मन्दिर की मरम्मत के लिये ही रखे थे? तो तुम भी बदल गये?" रंगय्या ने पूछा।

"मैं, हाँ, हाँ,......"

"अच्छा, तो यह लो अपने रुपये, करवाओ मरम्मत......" रंगय्या ने उसके हाथ में थैली देदी। "यदि सुब्बय्या बदल सकता है, और दान दे सकता है, तो मैं भी क्यों न बदलूँ?......" रंगय्या ने सोचा।

"सुब्बय्या सेठ, मगर मैं तुम्हारा यह रुपया इस शर्त पर दे रहा हूँ कि मरम्मत के काम की निगरानी मैं करूँगा....मुझे काम चाहिये।" रंगय्या ने कहा।

"अच्छा ...भाई......"

"मगर सुब्बय्या सेठ, देखो, किसी को कुछ न मालूम हो, नहीं तो यह पुण्य कार्य भी न कर पाओगे, और टैक्स ठुकेंगे अलग से। ......समझे ...!"

"हूँ, अच्छा ....."

"भगवान् के मन्दिर की मरम्मत होती है, और मेरे लिये सोने की जगह बनती है......" रंगय्या ने हँसते हुए कहा।

"तेरी अक्ल अब भी नही बदली''''''काम कर; बदल जायेगी।" सुब्बय्या ने कहा।

"हाँ-हाँ; कहते हैं, काम मे है राम''''''" यह कहता-कहता रंगय्या काम मे लग गया।

पर मुखिया के लिये रंगय्या का यह काम एक बहाना ही था। वह और सतर्क हो गया। क्या रंगय्या जैसे आदमी दुनिया की नजर मे नही बदलते ? नही बदलेंगे ?

शैतान का कारखाना

गाँव में होता तो कोई उसे मुत्तु भैया कहता, कोई चाचा मुत्तु कहता, कोई कहता "अवे ओ मुत्तु" ····· सभी में प्रेम की ध्वनि, आत्मीयता का आभास।

और यहाँ ? इस बड़े शहर में ? मद्रास में ? वह वेनाम का कीड़ा सा था······वह पतंगा जो रोजी-रोटी के लिये शहर भागा-भागा आया, और जल-तप कर भुन-भुनाकर रह गया,······कोई नहीं जानता उसे,····· एक दम नाचीज।

शायद इसीलिये ही तो आया था शहर में ! कोई न जानेगा मैं कौन हूँ, और जो चाहूँगा करूँगा, विना शर्म के, विना लज्जा के। मगर जव कभी वह हमदर्दी के लिये तड़पता तो शहर का यह वेरहम, वेदर्द रुख अखरता, ···वह अपने को भेड़-सा पाता और शहर को कसाई।

गाँव में कोई महल न था, जमीन-जायदाद न थी, धन-दौलत न थी। कुछ भी न था। यहाँ भी कुछ नहीं है, हाँ-हाँ, मगर गाँव में एक पेशा था, जो शहर में नहीं है,····· खानदानी पेशा, जिसको करता वह लजाता न था,······कुम्हार का पेशा। सस्ते एल्यूमीनियम के वर्तन क्या आ गये हैं कि लाखों कुम्हारों की रोटी गई, जो मिट्टी के वर्तनों में खाते-पकाते थे, वे एल्यूमीनियम के वर्तन वरतने लगे। और आजकल जव गाँव में शादी होती है, तो वचत के नाम पर लोग रस्म-रिवाज की भी परवाह नहीं करते हैं। एक जमाना था जव गाँव में शादी होती तो दस दिन मुत्तु के घर में चूल्हा जलाने की जरूरत

नही होती थी। ऐसे बुरे दिन हैं कि "मामूल" वगैरह भी नही मिलता है।

काम न हो, काम देने वाले न हों, खाने वाले हों, खाने वालो की जिम्मेवारी हो तो गाँव मे रहकर भी कोई क्या करेगा? अगर कोई दाता दान भी करता, तो साथ पाँच-सात गालियाँ भी परोसता। जहाँ पैदा हुआ, पाला पोसा गया, मुत्तु उसी गाँव में ही न रहा सका। उसने गाँव छोड दिया, गाँव ने उसे छोड दिया।

वह शहर आया, उसने महलो के ख्वाब नही देखे थे, बना भी न पाया। यहाँ ठीक-सी झोपड़ी भी तो नही है, मिट्टी की, कोढ़ खाई-सी, छोटी गिरी दीवारें, उस पर नारियल के पत्ते, कनस्तर, जूते, पत्थर-पत्थर,...... सभी कुछ, कूड़ा-कर्कट और उस छोटे से "बिल" मे रहते थे छ: प्राणी, और एक कुत्ता।

उसके घर से कितने ही घर वहाँ कतार मे थे, फिर नारियल के ऊँचे-ऊँचे बिखरे पेड़ .. ऐसी सुन्दर जगह जहाँ बड़े-बड़े बगले बनते हैं। पर वहाँ कोई बगला न था ... वीरान, सुनसान जगह।

सामने समुद्र का भटका, पतला, गन्दा बदबूदार नाला था। एक बार मुत्तु ने उसमे नारियल का टुकडा फेंक कर कहा था— "भला हो इस नाले का, यह न होता तो रहने की जगह भी न मिलती, इस बड़े शहर मे .. .. ।"

बात ठीक भी थी, उस नाले मे दल-दल अधिक था, और पानी कम। जवार आता, पानी आता, भाटा आता, पानी चला जाता, रह जाता गन्दा कीचड़, और असह्य दुर्गन्ध। कौन बनाये इस दुर्गन्ध के पास लाखो रुपयो के शानदार बगले!

मुत्तु उस दलदल के किनारे बैठा था, पास कुत्ता था। पीठ पर एक छोटा लड़का, कुत्ते की दुम ऐंठता, एक और लड़की...... पास मे बर्तन माँजती बड़ी लड़की। कुम्हार के घर भी तो एल्यूमीनियम के बर्तन बरते जाने लगे थे। झोपडी के अन्दर

एक और लड़की थी, तीन चार वरस की। तड़प रही थी, छटपटा रही थी, कभी-कभी जोर से कराह उठती! बुख़ार था, बीमार थी।

मुत्तु कीचड़ की ओर देख रहा था। वह कोई चिन्तक न था, जिसके मन में विचारों की धारा कल-कल करती नदी के प्रवाह की तरह आती हो, और आती जाती हो। उसके विचार तो दल-दल हो गये थे। सामने के कीचड़ की तरह। वे ही तीन-चार बातें,······ गाँव, पेशा, परिवार, पत्नी और ? हाँ, और······?

कुत्ते ने भी नजर उठाई। मुत्तु कीचड़ की ओर देख रहा था, वहाँ भँवर-सी बन गई थी। कीचड़ इस तरह अन्दर जा रहा था, जैसे उसे कोई अन्दर चूस रहा हो। जहाँ ज्वार आता हो भाटा आता हो, वहां कीचड़ भी अजीब करामात करता है।

मुत्तु की भौंहें तनीं। दूर घूर-सा रहा था। कुत्ता भौंका, भौंकता गया। कीचड़ के किनारे जाता, कूदना चाहता और पीछे हट जाता। और जोर से भौंकता। मुत्तु झुंझलाया। उसने कुत्ते को झिड़का। कुत्ता भौंकता गया,······इस तरह जैसे कोई भेद चिल्ला-चिल्लाकर दुनिया को बता रहा हो।

मुत्तु ने उसे तरेरा, और कुत्ते को कीचड़ में धकेल दिया। कुत्ते ने किनारे पर आना चाहा, पानी तो था नहीं कि तैरता-तैरता किनारे आ लगता। कीचड़ था, और वह भी अजीब कीचड़, हाथ-पैर मारता. और ज्यादा फँस जाता। मुत्तु उस पर पत्थर फेंक रहा था, वह भौंकता रहा और मुत्तु अपने झोंपड़े में चला गया।

उसके बच्चे उसे घूर रहे थे, उन्हें समझ में न आ रहा था कि क्यों उनके पिता ने यूँ कुत्ते को धकेल दिया था, और धकेल कर उस पर क्यों पत्थर फेंके थे। वे पूछ भी न पाते थे। पूछें तो पिता गालियों की बौछार करता। बड़े बिगड़े हुए थे उसके मिजाज, हमेशा चिढ़ा रहता, तिलमिलाता रहता, आग उगलता, तेजाब बरसाता, छोटी-छोटी बात पर ऐंठता, गरमाता, गरजता।

"हटो, बला टली" मुत्तु ने सोचा। निश्चिन्त हो, फटी दरी पर पैर फैला कर बैठ गया। कुत्ता भौंक-भौंककर गुम हो गया, गला घुट कर भरभरा गया। एक दुलात गई। एक खाने खाना गया, झूठन ही सही। और······मुत्तु सोचना न चाहता था।

इतने में उसकी बड़ी लड़की ने हाथ पोंछकर पूछा "मुन्नी कहाँ है ?"

"तुम्हारी माँ ले गई होगी, उससे पूछ लेना—" सीधे से प्रश्न का सीधा-सा उत्तर उसने इस तरह उगला जैसे मिर्चें उगल रहा हो। लड़की भी अपना-सा मुँह लेकर अपने काम में लग गई।

—उसी का तो यह कुत्ता है, मुँह बाये बैठा रहता, रात के नौ बजे तक, उसके आने तक। क्या कहेगी वह ? कुछ भी कहे, ज्यादा बकेगी तो उसे भी कीचड़ में धकेल दूँगा—हाँ ! —वह जिस मूड में था, उसका बस चलता तो सारे मद्रास शहर को उस दलदल में फेंक देता और किनारे पर खड़ा-खड़ा कोई सड़ा-गला पुराना गाना गुनगुनाता।

एक बज रहा था, पत्नी न आई थी। पाँच-दस कौड़ी पड़े होते तो पाजेब की आवाज दूर से आती, —छन-छन, नागिनी-सी चलती छः बच्चों की माँ, और शक्ल सूरत—हे भगवान, जाने कितनों ने उसका रूप डसा हो।

मुत्तु और चिढ़ गया, बैठ भी न पाया। पत्नी की याद न करना चाहता था। पर बरबस सिवाय उसके कुछ और न सोच पाता था। शर्मिन्दा था, पत्नी की वजह से। इतनी मानो कि वह भभकते क्रोध के लिये ईंधन हो रहा था।

मुत्तु की पत्नी पाँच-दस घरों में काम करने, कुछ दूर गई बस्ती में। वहीं देखते-देखते दियासलाई के बक्सों से छोटे-छोटे मकान बन गये थे, पौ फटने से पहले जाती, एक-डेढ़ के करीब आती— तीन बजे जो जाती, तो साढ़े नौ के बाद घर पहुँचती। हर

हफ्ताह, दो साल से यही सिलसिला चल रहा था—वह ही घर-बार चला रही थी। मुत्तु बेकार था, निखट्टू हो गया था।

"कहाँ है वह ? क्यों नहीं आई ?" मुत्तु गरजा। बच्चों ने जवाब न दिया। वे डरे-डरे से इधर-उधर ताक रहे थे।

मुत्तु झुँझलाता-झुँझलाता झोंपड़ी से बाहर निकला, —दो चार झोंपड़ी पार करके गया ही था कि वह सामने आ रही थी। मुत्तु झट मुड़ा। उसका चेहरा लाल-पीला हो रहा था।

उसकी पत्नी अनुमान कर सकती थी कि वह नाराज था। नाराज तो वह हमेशा ही रहता था। जब से शहर आया था, तब से वह जल ही तो रहा था ! पिछले दिनों से वह कुछ पागल-सा भी हो गया था,—उसने परवाह न की।

परसों वह रात कुछ देर से आयी थी, उसने उसको रुई की तरह धुन दिया था। अब तो दिन है। क्यों यों लाल-पीला हो रहा है ? क्या बात है ? कहीं लड़की को बुखार तो अधिक नहीं हो गया है ? कही इन कारपोरेशन वालों ने आकर झोंपड़ा तो नहीं उखाड़ फेंका है ? नहीं ? फिर क्यों नाराज है ?

झोंपड़ी में आई तो पति तुरत गरजा—"घर क्यों आई है ? वहीं जो रहती !"

पत्नी पर गाज-सी गिरी, उसे न सूझा कि क्या कहे।

"कहती क्यों नहीं हो ? नौकरी करती हो, या उन लोगों की······"मुत्तु ने इस तरह की अश्लील बात कही कि उसकी पत्नी बच्चों की ओर देखने लगी।

मैं सब जानता हूँ तेरी करतूतें। कब तक मेरी आँखों में परदा डाले रखोगी ? मैं शहर इसलिये नहीं आया था कि इन बाबुओं को अपनी बीवी बेचता फिरूँ ? समझी, बहुत सहा—हूँ, हाँ !"

"क्या कह रहे हो तुम ? कुछ तो समझो, काम न करो तो खाना न मिले और जब काम करो, तो यों ऊटपटाँग शक करते हो !

मुझे मार दो, क्यों नहीं देते ? मालन ने कहा । मैं कहती हूँ—!"

"क्या कहते हो तुम ! मेरा सिर ! मैं सब कुछ जानता हूँ ।"

उसकी पत्नी रोने लगी । अपनी लड़की को टहलाने लगी । उसके सामने बच्चे बैठे थे, गुमसुम से । काठ के खिलौने से । उनके पीछे चीथड़ों का ढेर—उन्हीं में तो उसकी गोदी की लड़की सोती थी ! "सो रही होगी ।" मुत्तु की पत्नी ने सोचा । कुछ निश्चिन्त-सी हो गई ।

फिर जाने क्यों उसने वे ही चीथड़े टटोले । लड़की न थी ।" लड़की ...कहाँ गई ? तड़के जब मैं काम पर गई थी, यहीं तो थी, कहाँ है ?"

"उन लोगों से पूछो जिनकी वह लड़की थी । मुत्तु चिल्लाया ।

"क्या कह रहे हो ?" मुत्तु की पत्नी सिर पीटने लगी । "कहाँ है ?" उसने बच्चों से पूछा । वे एक दूसरे का मुँह देखने लगे । जैसे वे स्वयं आपस में पूछ रहे हों, कि बच्चा कहाँ खो हो गया ?

"तुम जिन्दी हो, कोई और होता तो—" मुत्तु गरज रहा था । गरीब ही सही । पर इतना गया-गुज़रा नहीं कि दूसरों की सन्तान को चूमता-पुचकारता रहूँ ।

"कहाँ है लड़की ?" उसकी पत्नी अपने सिर के बाल नोच रही थी ।"

"तुम जानो, और तुम्हारी लड़की," मुत्तु कन्धे हिलाता, कदम पटकता-पटकता इस तरह बाहर गया जैसे वह यह कहने के लिये ही झोंपड़ी में इतनी देर बैठा हो ।

झोंपड़ी से निकलकर वह नारियल के बाग में सीधे चलता गया । उसके पीछे उसकी पत्नी और पत्नी के पीछे उसके बच्चे ।

वह कुत्ता जो बता सकता था कि वह लड़की कहाँ थी, दलदल में मर चुका था, उसी दलदल में जिसमें मुत्तु ने अपने बच्चे को, तड़के पत्नी के जाते ही फेंक दिया था । मुत्तु अब सोच रहा था कि

उसने एक ही हल्ले में दो परिन्दे मार दिये थे—एक और पेट कम। किसी का पाप और मेरे मत्थे !

वह मृत्यु जो छोटी-सी बच्ची की जान ले सकता था, इतना साहस न रखता था कि कहे कि उसी ने उसे दलदल के हवाले कर दिया था। वह उठकर चल दिया। उसके पीछे उसका परिवार जा रहा था। क्या वे गाँव की ओर जा रहे थे ? कौन जाने ? शायद हाँ, शायद नहीं !

बच्चों वाला हो गया हूँ। बचपन स्मृति मात्र रह गया है। बच्चे, कुछ कर देते हैं तो मैं अपने बचपन के बारे में ही सोचने लगता हूँ—मुस्करा देता हूँ, मन-ही-मन कुछ गुनगुना लेता हूँ।

आज राजाराव रह-रह कर याद आ रहा है—पुराना साथी, बचपन का यार। न मालूम वह इतने बड़े फैले शहर में कहाँ है?

हाँ, तो बात यूँ थी, वरुण आज बनठन कर आया, अच्छे कीमती कपड़े पहने, बाल सँवारे, महकता-महकता-सा। मैं सहमा। कुछ-कुछ तिलमिलाया। इसके पास ये कपड़े कहाँ से आये? किसने दिये? माँ ने? वह तो बिना मेरी अनुमति के देगी नहीं। कहाँ से आये इसके पास पैसे? कॉलेज जाकर यह अपनी स्वतन्त्रता, उच्छृंखलता, उद्धतता मे तो नही उद्घोषित कर रहा है?

वरुण मेरा बड़ा लड़का है, अभी-अभी कॉलेज मे भरती हुआ है। उसकी शक्ल-सूरत कुछ-कुछ राजाराव से मिलती है, अब वह उसके कारनामे भी करने लगा है। पूछताछ करने पर उसने बताया कि वह नेतिवालों के यहाँ से कपड़े बनवा कर लाया है। नेति सुब्बाराव भी मेरा सहपाठी था। कपड़े का व्यापार करता था, उसकी दुकान से वरुण मुझसे कपड़े ले आया। जब मैंने वरुण को डाँटा-डपटा, पैसे के बारे मे फटकारा तो वह कहने लगा—"चाचा जी ने मुझे ये बनवाकर दिये हैं—चूँकि मैं कालेज में भरती हो गया हूँ—"

मैं निरुत्तर हो गया। बहुत-सी बातें सोचीं। हो सकता है, कि वरुण ने उनसे कपड़े माँगे हों—फिर सुब्बाराव ने यह ब्रिलक्रीम, और यूडी कोलोन तो नहीं दिये होंगे? हालत ऐसी थी, कि मैं कुछ और कह भी न सका।—मुस्करा बैठा।

पर वरुण की हरकत देखकर रामाराव की करतूतें याद हो आयीं। वह घर का निर्धन था। पर बड़ा ढोंग-दिखावा करता था, शेखियाँ मारता था। आडम्बर में निर्धनता को ढकने की कोशिश करता, जैसे कालेज में निर्धन होना गुनाह हो। इधर-उधर के ऊटपटाँग खर्च करता, न मालूम उसके गरीब किसान माँ-बाप कैसे रुपये भेजते थे?

वह भी कपड़ों की दुकान से कपड़े उधार ले आता था, धोबियों के यहाँ से कीमती कपड़े माँग ले आता था और हमेशा सजा-धजा मटरगश्ती किया करता। हम उसको छैला कहा करते थे। अंग्रेजी में उसको चिढ़ाया करते थे—"बॉरोड प्लयूम्स!" कहीं अनजाने वरुण उसकी तरह अपना जीवन तो नहीं ढाल रहा था!

कई बातें रामाराव में ऐसी थीं जिनको देख गुस्सा आता था और कई ऐसी कि उसकी मैत्री में गर्व होता था। न मालूम वह अब इस शहर में क्या कर रहा है? क्यों यहाँ आया है, कब से यहाँ है?

भट्टत्तिरी की चिट्ठी कुछ दिन पहले न आती तो मालूम भी न होता कि वह यहीं कहीं है, उसे भी किसी और ने उसके बारे में बताया था। मैं यहाँ का हूँ, अपना मकान है, जमीन-जायदाद है, घर में फोन भी है, कम-से-कम रामाराव कभी-न-कभी तो फोन करता? कहीं-न-कहीं तो मिलता? क्लबों में भी नहीं मिला, उस तरह का आदमी जरूर किसी समारोह-समारम्भ में मिलना ही चाहिये था। आखिर बात क्या है!

अब तो वह बड़ा डाक्टर हो गया होगा, अमेरिका भी हो आया था, कुछ दिन जर्मनी में भी विशेष शिक्षा पाई थी। विशेषज्ञ

होगा। उसे पुन्नामलें हाई रोड पर होना चाहिये था जहाँ बड़े-बड़े विशेषज्ञ बैठते हैं—पर भट्टत्तिरी का दिया पता तो कुछ और है ? कहीं उसकी जानकारी गलत तो नहीं है ?

रामाराव इतना जुगतिया था, चलता पुरजा था, कि उसने अब अच्छी खासी मिल्कियत, हैसियत बना ली होगी। फिर यह कैसे हुआ कि मैं उसे अभी तक नहीं मिल पाया ! शायद इसलिये कि मैं घर से अक्सर बाहर नहीं आता जाता। फिर मैं खास बड़ा आदमी नहीं हूँ। रामाराव उन लोगों मे है, जो जिन्दगी की सीढ़ी समझते हैं। उनकी नजर हमेशा आगे की पैंडी पर होती है, मैत्री, सहवास तभी तक है, जब तक उनसे स्वार्थ पूरा होता है, उसकी सीढ़ी मे मैं सहारा नहीं हो सकता, शायद इसीलिये नहीं आया। नहीं,—मुझे इतना अनुदार नहीं होना चाहिये। जैसे हम कभी-कभी बचपन के यारों को देखने के लिये उतावले हो जाते हैं, वह भी होता होगा। खैर, मगर वह क्यों नहीं मिला ?

भट्टत्तिरी का दिया हुआ पता लेकर मैं रामाराव को ढूंढने निकल पड़ा।

पता था, नम्बर था, अच्छी गाडी थी, पर मकान ढूंढना आसान न था। नुगम्बाक्कम बड़े लोगों का मोहल्ला है, बड़े-बड़े बगले है, चौड़ी-चौड़ी सड़कें हैं मकान आसानी से मिल जाते हैं।

मैंने सोचा था कि बड़ा डाक्टर है, बड़ा बंगला होगा, बहुत से लोग जानते होंगे, उसके नाम का बड़ा-सा बोर्ड कहीं टँगा होगा, पर कहीं कुछ नहीं। मैंने दो-चार भद्र पुरुषों से, यह सोच कर कि छोटे-मोटे लोग तो उसे क्या जानेंगे उसके बारे मे पूछा, पर वे न जानते थे। मुझे कुछ अचरज हुआ, चूंकि रामाराव उन लोगों मे था जो जहाँ भी हों, पट फाड़कर, घड़ा फोड़कर अपने की सूचना निरन्तर देते ही रहते हैं।

राश हो कूम नदी के किनारे की सड़क की

मैं निरुत्तर हो गया। बहुत-सी बातें सोचीं। हो सकता है, कि वरुण ने उनसे कपड़े माँगे हों—फिर सुब्बाराव ने यह ब्रिलक्रीम, और यूडी कोलोन तो नहीं दिये होंगे? हालत ऐसी थी, कि मैं कुछ और कह भी न सका।—मुस्करा बैठा।

पर वरुण की हरकत देखकर रामाराव की करतूतें याद हो आयीं। वह घर का निर्धन था। पर बड़ा ढोंग-दिखावा करता था, शेखियाँ मारता था। आडम्बर में निर्धनता को ढकने की कोशिश करता, जैसे कालेज में निर्धन होना गुनाह हो। इधर-उधर के ऊटपटाँग खर्च करता, न मालूम उसके गरीब किसान माँ-बाप कैसे रुपये भेजते थे?

वह भी कपड़ों की दुकान से कपड़े उधार ले आता था, धोबियों के यहाँ से कीमती कपड़े माँग ले आता था और हमेशा सजा-धजा मटरगश्ती किया करता। हम उसको छैला कहा करते थे। अंग्रेजी में उसको चिढ़ाया करते थे—"बॉरोड प्लयूम्स!" कहीं अनजाने वरुण उसकी तरह अपना जीवन तो नहीं ढाल रहा था!

कई बातें रामाराव में ऐसी थीं जिनको देख गुस्सा आता था और कई ऐसी कि उसकी मैत्री में गर्व होता था। न मालूम वह अब इस शहर में क्या कर रहा है? क्यों यहाँ आया है, कब से यहाँ है?

भट्टत्तिरी की चिट्ठी कुछ दिन पहले न आती तो मालूम भी न होता कि वह यहीं कहीं है, उसे भी किसी और ने उसके बारे में बताया था। मैं यहाँ का हूँ, अपना मकान है, जमीन-जायदाद है, घर में फोन भी है, कम-से-कम रामाराव कभी-न-कभी तो फोन करता? कहीं-न-कहीं तो मिलता? क्लबों में भी नहीं मिला, उस तरह का आदमी जरूर किसी समारोह-समारम्भ में मिलना ही चाहिये था। आखिर बात क्या है!

अब तो वह बड़ा डाक्टर हो गया होगा, अमेरिका भी हो आया था, कुछ दिन जर्मनी में भी विशेष शिक्षा पाई थी। विशेषज्ञ

होगा। उसे पुन्नामलें हाई रोड पर होना चाहिये था जहां बड़े-बड़े विशेषज्ञ बैठते हैं—पर भट्टत्तिरी का दिया पता तो कुछ और है ? कहीं उसकी जानकारी गलत तो नहीं है ?

रामाराव इतना जुगनिया था, चलता पुरजा था, कि उसने अब अच्छी खासी मिल्कियत, हैसियत बना ली होगी। फिर यह कैसे हुआ कि मैं उसे अभी तक नहीं मिल पाया ! शायद इसलिये कि मैं घर से अक्सर बाहर नहीं आता जाता। फिर मैं खास बड़ा आदमी नहीं हूँ। रामाराव उन लोगों में है, जो जिन्दगी की सीढ़ी समझते हैं। उनकी नजर हमेशा आगे की पैड़ी पर होती है, मैत्री, सहवास तभी तक है, जब तक उनसे स्वार्थ पूरा होता है, उसकी सीढ़ी में मैं सहारा नहीं हो सकता, शायद इसीलिये नहीं आया। नहीं,— मुझे इतना अनुदार नहीं होना चाहिये। जैसे हम कभी-कभी बचपन के यारों को देखने के लिये उतावले हो जाते हैं, वह भी होता होगा। खैर, मगर वह क्यों नहीं मिला ?

भट्टत्तिरी का दिया हुआ पता लेकर मैं रामाराव को ढूंढने निकल पड़ा।

पता था, नम्बर था, अच्छी गाडी थी, पर मकान ढूंढना आसान न था। नुगम्बाक्कम बड़े लोगों का मोहल्ला है, बड़े-बड़े बंगले है, चौड़ी-चौड़ी सड़कें हैं मकान आसानी से मिल जाते हैं।

मैंने सोचा था कि बड़ा डाक्टर है, बड़ा बंगला होगा, बहुत से लोग जानते होंगे, उसके नाम का बड़ा-सा बोर्ड कहीं टँगा होगा, पर कहीं कुछ नहीं। मैंने दो-चार भद्र पुरुषों से, यह सोच कर कि छोटे-मोटे लोग तो उसे क्या जानेंगे उसके बारे में पूछा, पर वे न जानते थे। मुझे कुछ अचरज हुआ, चूंकि रामाराव उन लोगों में था जो जहां भी हो, पट फाड़कर, घड़ा फोड़कर अपने अस्तित्व की सूचना निरन्तर देते ही रहते हैं।

राश हो कूम नदी के किनारे की सड़क की ओर से घर

वापिस आ ही रहा था कि बोंगविला की झाड़ी के नीचे छुपा वह नम्बर मिल ही गया; एक बोर्ड भी था—"अन्नपूर्णा औषधालय।" मेरा आश्चर्य और भी बढ़ा। भट्टत्तिरी के दिये हुए नम्बर से यह नम्बर मिलता तो था, पर उसने इस औषधालय का जिक्र नहीं किया था। नाम देसी ही सही, खराब न था, मगर मैंने किसी बड़ी बिल्डिंग की कल्पना की थी, आलीशान तिमंजिले चौमंजिले मकान की। पर यहाँ तो पर्णकुटी थी। चारों ओर छोटे-बड़े पेड़, पर्णकुटी भी लताद्रुमों से आवृत्त थी। फिर भी मैंने साहस करके पूछा, "क्या यहाँ डॉ० रामाराव रहते हैं ?" कोई उत्तर न मिला, पर भीना-भीना संगीत, जो सड़क पर साफ-साफ नहीं सुनाई देता था, अब साफ-साफ सुनाई देने लगा। मीरा की कोई कृति थी। मैं चौंका। औषधालय में यह संगीत क्या ? नहीं गलत पता है, भट्टत्तिरी को शायद नहीं मालूम होगा !

फिर भी मैंने पुकारा "डॉ० रामाराव !" और इधर-उधर देखने लगा। एक सज्जन, ग्रामीण से, तम्बा ठीक करते, कन्धे पर तौलिया डाले, चुस्ती से मेरी ओर आये। रामाराव की, मैं इस प्राकृतिक वेष और परिवेष में कल्पना भी नहीं कर सकता था। हो न हो पता गलत है, व्यक्ति गलत है।

उसने आगे बढ़कर मुझे आलिंगन किया। "कहो शर्मा, अच्छे तो हो ?" मैं भौंचक्का-सा रह गया। मेरा बढ़ता आश्चर्य सहसा सीमा को लांघ-सा गया। एक अपरिचित और इतनी सहृदयता ? इतना स्नेह ?" "अरे भाई मैं ही हूँ रामाराव— "उसने कहा। अब मैं उसे पहचान सका, पर मैं इतना चकित था कि आवाज भी घुट सी गई थी।

न मालूम इन चालीस पैंतालीस वर्षों में, आयु ने मेरी शक्ल सूरत पर क्या प्रभाव और प्रहार किये हैं—रामाराव की शक्ल को तो उसने बिल्कुल बदल दिया था, भुना काला खुरदरा चेहरा, गंजा सिर, कनपटी पर सफेद बाल, कुछ झुकी कमर, झुके से कन्धे।

"अरे भाई यह शक्ल क्या बना रखी है, पहचानना मुश्किल ···!" मैंने कहा।

"हमने क्या बनाई है, वही है, जो भगवान ने दी है—" वह हँस पड़ा। मैं जानता हूँ कि उन दिनों अगर रात के नौ बजे भी उससे कोई मिलने आता था, तो दाढी बनाकर, नये धुले कपड़े पहनकर यू डी कोलोन छिड़ककर वह जाता था। यानी तब शक्ल बनाता था, ठीक ही तो कह रहा है।

"भाई तुम्हारा मकान ढूँढना भी मुश्किल है!"

"अरे किसी रिक्शावाले से पूछ लेते, बता देता, तुमने किसी बंगले वाले से पूछा होगा और वह भी किसी डॉक्टर से। वे क्या जानेंगे? वे तो यह भी नही जानते कि उनके बंगलो मे कामधाम करने वाले नौकर चाकर कहाँ रहते है। उन लोगो के यही बंगले है—नौकरो के—।" वह नदी के किनारे की झोपड़ियो की ओर इशारा करने लगा— कई झोंपड़ियाँ गिरी हुई थी, जगह-जगह बाँस-पत्तो के ढेर—कीचड, अस्त-व्यस्त पड़ी चीजे, दीवार की साया मे, पेडो के नीचे, पाँच-दस भूखे-नंगे परिवार। मैं सहमा, कही इस रामाराव ने अपना बौद्धिक रंग तो नही बदल लिया है? कही मैं ऐसी जगह तो नही आ गया हूँ जहाँ मैं अवाँच्छित शोषक समझा जाता हूँ? मैं हक्का-बक्का था।

"बैठो भी—" उसने एक एक कुर्सी दिखाई। उस पर सफेद रग पुता था, मानो किसी हस्पताल की कोई कुर्सी हो।

बैठ जायेंगे। सुना है, यहाँ तुम बहुत दिनो से हो? यह बताओ तुम हमसे मिलने क्यों नही आये? अजीब आदमी हो!"

अरे भाई, सच मानो मैं नही जानता था कि तुम यहाँ हो— सोचा था कि तुम भी अपनी महत्वाकांक्षाओ की पूछ पकडे-पकड़े किसी स्वर्ग में पहुँच गये होगे। यकीन मानो, वह स्वर्ग कही हो या न हो, पर इस शहर में अवश्य नही है," रामाराव हँस पड़ा, पर उस हँसी मे विचित्र व्यंग्य, आक्रोश, खीझ, कड़वापन गूँजता-सा था।

"अच्छा तो खैर, अब घर चलो, कुछ बातचीत होगी—" मैंने कहा।

"क्यों, यह क्या ऐसी जगह है जहाँ बिना क्लोरोफार्म के ही लोग बेहोश हो जाते हैं ?" वह फिर यों हँसा कि मैं सोचने लगा कि मैं वहाँ बेकार गया था।

"नहीं-नहीं,— मेरा मतलब—" मैंने कुछ कहना चाहा, पर कुछ कह न सका।

"काफी पीओ—काफी—" दरवाजे में से झाँककर रामाराव ने कहा और थोड़ी देर में ट्रे पर काफी आ गई...एक स्त्री लाई, देखने में न वह रामाराव की पत्नी लगती थी, न नौकरानी ही। उस दिन सवेरे से मुझे इतने आश्चर्य हो रहे थे कि मैंने चकित होना ही बन्द कर दिया था।

"अरे चलो भी घर... " मैंने कहा।

"भाई चलता तो, पर अब बड़ा काम है, मरीज तो आते ही रहते हैं। अब एक और काम सिर पर ले लिया है... ..."

"वह क्या ?"

"एक नाटक करवा रहा हूँ, तुम भी आना। पैसे नहीं लूँगा, दोगे तो 'न' नहीं करूँगा, जानता हूँ तुम्हें पैसे से कितना लगाव है ..." वह हँसा। मुझे न मालूम क्यों भय हुआ कि कहीं वरुण ने मेरी शिकायत इससे न कर दी हो।

"जानते हो पिछले दिनों इस बरसाती नाले में भी बाढ़ आ गई, और इन लोगों की झोंपड़ियाँ निगलती गई। इन लोगों के पास अपना कहने को कम ही होता है, पर जो कुछ था वह भी बह-बहा गया, कपड़े-लत्ते, बर्तन, घड़े भाँड़े, सब कुछ। कारपोरेशन वालों ने मदद की है, दो-चार फिल्म वालों ने भी बहुत कुछ किया है, पर इन बंगले वालों ने कुछ न दिया। इन नौकरों को वेतन जो देते हैं, और क्यों देंगे ?" रामाराव यूँ हँसा जैसे मेरी प्रतिक्रिया भाँपने की

कोशिश कर रहा हो। मैं कुछ न बोला।

"मैं इसलिये एक नाटक भी करवा रहा हूँ, मैंने ही लिखा है, रिहर्सल हो रहा है। तुमने मीरा का भजन सुना ही होगा, नाटक करके कुछ पैसे जमा करेंगे, इन लोगों को देंगे। दवाइयाँ भी खरीदनी हैं। तुम जानते ही हो, दान वान मुझे पसन्द नहीं है।"

"हूँ, फिर कभी जरूर आना," मैंने कहा।

"शायद बहुत कुछ है पूछने-जानने को······" रामाराव फिर कहता-कहता हँसा। इस बार मैं भी उसके साथ हँसा, "लेकिन भाई, तुम्हारे पास गाड़ी है, रईस हो, फुरसत भी होगी, क्यों नहीं किसी शाम यहाँ आ जाते! बढ़िया गाना सुनाऊँगा ···यह" यह मेरी पीठ थपथपाने लगा, जैसे वह हम उम्र का न होकर कोई बड़ा बुजुर्ग हो।

वह काम में लगा हुआ था। मैंने वहाँ रहना ठीक न समझा, चला आया। पर बचपन के उस साथी को उस हालत में देखकर मैं यह नहीं कह सकता कि मैं खुश हुआ था। पर उसने इतनी उत्सुकता जगा दी थी कि मैं दो-चार दिन उस के बारे में ही सोचता रहा। एक दो बार उसके घर जाना भी चाहा, फिर न मालूम क्यों न गया।

लोग सेवा के लिये क्यों उतरते हैं? कीर्ति के लिये? आडम्बर के लिये? प्रतिष्ठा के लिये? व्यस्त होने के लिये? परार्थ के लिये? तरह-तरह के लोग तरह-तरह की सेवायें। रामाराव क्यों सेवा में लगा है? जो उसको जानते हैं उसकी पृष्ठभूमि जानते हैं, वे इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। हो सकता है कि वह भी किसी मेम्बरी के फेर में हो, मेरे मन में कितनी ही बातें उठीं। पर उससे मिलने के लिये हिचकता रहा। कहीं ऐसा न हो कि मैं जाऊं और वह मुझ से भी चन्दा वसूल ले।

लेकिन धीमे-धीमे इतनी उत्सुकता बढ़ी कि मैं उसके पास

ही गया !

उसके झोंपड़े में काफी भीड़ थी। सब बाहर खड़े थे। और रामाराव दरवाजे पर खड़ा नकाब उतार रहा था। शायद उसी झोंपड़े में उसने कोई आपरेशन किया था; माथे पर पसीना था।

एक स्ट्रैचर पर किसी बीमार को पास के झोंपड़े में पहुँचा दिया गया। झोंपड़ा ही सही, वह शायद उन झोंपड़ों में वह सब कर रहा था, जो बड़े-बड़े हस्पतालों में प्रायः किया जाता है।

रामाराव ने मुझे देखा और अन्दर आने का इशारा किया, फिर वह एक स्त्री के सामने मुस्कराता-मुस्कराता हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। वह स्त्री उसके सामने नारियल और फूल इस तरह चढ़ा रही थी, जैसे यह भी कोई भगवान हो। उसके पति का ही शायद आपरेशन हुआ था।

'इन्हें ले जाइये. इन्हें तो भगवान पर भी मत चढ़ाओ ! खाओ, सेहत बनेगी, खुद भूखे रहकर भगवान को क्यों खिलाते हो ? ले जाओ ·····" रामाराव ने कहा। वह स्त्री झेंपी, मैं झेंपा। साधारणतया भक्ति और सेवा कदम मिलाती चलती हैं, यह क्या ? रामाराव नास्तिक-सा मालूम होता था।

मैं बैठ गया। मेरे सामने ट्रे में दो कप गरमा-गरम काफी थी। हम पीने लगे। बाहर खड़ी भीड़ भी छटने लगी।

'आज के लिये यह काफी है। दो घन्टों का ओपरेशन था, और ······" रामाराव कुछ कहना चाहता था। फिर इस तरह रुका जैसे अपने ही बारे में कहना शिष्टता न हो।

"भाई, यह जानना चाहता हूँ कि तुमने यह सेवा कार्य क्यों शुरू किया है ?"

रामाराव हँस पड़ा, जैसे उसे अपनी राम-कहानी पसन्द न हो।

'तुम भी पुन्नामलै हाई रोड पर अपना नर्सिंग होम चला

सकते थे न ?"

'नही भाई, अब मेरा विश्वास है कि डाक्टर के लिये किसी प्रकार की फीस लेना अनैतिकता है, खर्च के लिये भले ही लो। मैं भी खाता-पीता हूँ, भूखा नही मरता हूँ······ये गरीब लोग ही मुझे खिलाते हैं, यह सब राज्य की ओर से होना चाहिये······कुछ-कुछ होता भी है······"

"खैर, जाने दो, मैं तेरे विश्वास सुनने नही आया हूँ। अकेला मालूम होता है, इसलिये ही यह सब बखान रहा है। घरबार होता तो मालूम होता आटे-दाल का भाव !"

रामाराव ठट्ठा मार कर हस पड़ा।

"बताओ भी······"

"शायद बताना ही होगा, कारण कुछ वैयक्तिक है इसलिये कहते हुए······"

"सेवा व्यक्ति ही तो करता है ! और इसके लिये हरेक के अपने अपने कारण हैं। बताओ तुम कैसे बदले ··"

"किस्सा बहुत बड़ा है, पर बात सिर्फ यही है कि इस देश मे इतनी गरीबी है, और गरीबो की यह हालत है कि कितनो को ही उनके लिये त्याग करना होगा।"

"मगर मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि तुमने क्यो यह किया ?"

रामाराव मुस्करा दिया। कहने लगा, "तुम तो जानते ही हो मैं उच्च शिक्षा के लिये अमेरिका गया था। कैसे गया था, यह तुम शायद नही जानते। अब तुम जानकर भी क्या करोगे ?"

'नही-नही' बताओ।"

"मेरे माँ-बाप धनी नही थे, जैसा कि मैं दिखाया करता था, वे गरीब थे। पिता जी गुजर गये थे, और माँ के पास जो कुछ था, उसने मुझे दे दिया, फिर भी पांच हजार मुश्किल से मिले। पांच

हजार अमेरिका में कितने दिन मेरे काम आते ?"

"हाँ, हाँ !"

"शायद तुम यह भी नहीं जानते कि मैं उन दिनों एक स्त्री से प्रेम किया करता था। उसका नाम था अन्नपूर्णा। वह विधवा थी। पास उसके कुछ पैसा था। मैंने उससे विवाह का वायदा किया। उसके पास अपना कोई दस-पन्द्रह हजार रुपया था, उसने मुझे वह दे दिया। मैं यूं बीस एक हजार रुपये लेकर चला गया।"

"हूँ !"

"अमेरिका में इतना व्यस्त रहा कि न माँ मुझे याद रही, न अन्नपूर्णा ही। यही नहीं, मैं वहाँ एक और लड़की के प्रेम में फंस गया। वह भी धनी थी। मैं भी भविष्य के रंगीन सपने देखने लगा, पर होना कुछ और था।"

"क्या हुआ ?"

"वह लड़की, एकाएक न मालूम क्यों अन्धी हो गई। बहुत से कारण बताये गये, पर मैं अभी तक नहीं सोच पाता हूँ कि क्या उसी को ही अन्धा होना था। मैं यह भी साफ-साफ कह दूं कि ऐसी बात नहीं कि मुझे उसके धन का लालच नहीं था, मैं उस धन से बहुत कुछ करना चाहता था। पर मेरे हाथ कुछ नहीं आया। मुझे विरक्ति तो नहीं हुई, पर धन से आसक्ति भी न रही।"

"हूँ !"

"खैर, पढ़ पढ़ा कर जब वापस आया तो मैंने एक और चोट खाई। मेरी माँ गाँव में बिना दवा-दारू के, गरीबी की शिकार तो थी ही, तपेदिक की भी शिकार हो गई। और एक डाक्टर की माँ दवा के लिये हाय-हाय करती गुजर गई।"

"हूँ !"

"मैंने सोचा कि मेरी जिन्दगी का रास्ता वह नहीं होगा, जो प्रायः डाक्टरों का होता है।"

"हूँ !"

"अभी किस्सा खत्म नहीं हुआ। अन्नपूर्णा भी गुज़र गई। किसी ने उसको बताया कि मैं अमेरिका में किसी लड़की के साथ उलझ गया था, उसने ज़हर निगल लिया। मैं उसको भी न बचा सका। मेरी आँखें खुलीं।"

"हूं !"

"मैं भी बड़ा नामी सर्जन बनकर पैसा कमा सकता था, पर मेरे पास वे ही आते जो और जगह भी जा सकते हैं। ये गरीब लोग तो आ ही नहीं पाते। बहुत-सी बीमारियाँ हैं। इनको कोई देखने-भालने वाला नहीं है। अगर मैं अपनी प्रेयसी को न बचा सका, माँ को न बचा सका, अन्नपूर्णा को न बचा सका, कम-से-कम इनको तो बचाऊँ !"

"यानी तुम संन्यासी न होकर सेवक हो गये ' ..." मैंने कहा।

"तुम कुछ भी समझो, समझने वाले मुझे मूर्ख भी समझते हैं, समझा करें।"

"अब मुझे समझ में आया कि तुमने अन्नपूर्णा औषधालय क्यों खोला है !"

"हर कोई अपने जीवन की परिपूर्ति चाहता है। शायद मेरे जीवन की यही परिपूर्ति है।" रामाराव कहता-कहता उठा, क्यों कि इस बीच बाहर बीमारों की कतार-सी खड़ी हो गई थी। मैं भी उठकर चला।

oooo oooo oooo

पाँच-छः वर्ष बाद अन्नपूर्णा औषधालय की ओर से गुजरा। वहाँ कोई भीड़ न थी। बहुत दिनों से मैंने रामाराव को नहीं देखा था। आस-पास पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले वह अचानक हृदय गति के रुक जाने से दिवंगत हो गया था,...... चिकित्सक तक भी चिकित्सा न पहुँच सकी।

इस मूर्तिपूजक देश में लोगों ने अन्नपूर्णा औषधालय के सामने नदी के किनारे, रामाराव की मिट्टी की भौंडी-सी मूर्ति बना दी थी। उस पर नारियल और फूल चढ़ा दिये थे। हम प्रायः वन्दनीय व्यक्ति की मूर्ति बनाकर उसको भूल जाते हैं। उसको दैवीय बनाकर उसकी स्मृति भी मिटा देते हैं, उसको देवताओं की तरह अदृश्य कर देते हैं।

कहीं कोई समाचार न निकला, और वह इस संसार से चला गया। उसके साथी अब भी सोचते होंगे कि वह भी कहीं जमा-जमा लाखों रुपया बना रहा होगा।

विचित्र निदान

'जब आप मद्रास जायें तो पार्थसारथी देखिये, कपालीश्वर देखिये बीच, और, और······" वे सज्जन मुस्कराते-मुस्कराते कुछ यों सिर हिलाने लगे, जैसे इस भूमिका के बाद असली बात कहने जा रहे हों······ "और देखिये डॉ० आचार्य को, बशर्ते कि आप बीमार हों, और······हाँ, और·· ·· " वे कहते-कहते रुके और कहकहा करने लगे। बात भी एक और दिशा मे बह निकली।

गाड़ी मे, वह भी फर्स्ट क्लास मे, डा० आचार्य का जिक्र पहली बार ही सुना था, वैसे उनके बारे में और जगह भी भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में बात-चीत होती थी, काफी जाने-माने आदमी हैं, शोहरत है। शोहरत हो तो कुछ गालियाँ देने वाले भी होते हैं। नामी बदनामी एक ही सिक्के के दो पासे ही तो हैं!

बीमार ही शायद डाक्टरों के पास जाते हैं, और मैं अक्सर बीमार नही पड़ता। पर डॉ० आचार्य को क्लब मे देखा है। बाहर उनकी नामवरी कुछ भी हो, क्लब में वे मिलनसार नही समझे जाते हैं, आते भी हैं तो यूँ अलग-अलग बैठते हैं, जैसे पत्र-पत्रिकाओं की संगति ही काफी हो। मितभाषी हैं, उनको कई ने कई उपाधियां दे रखी हैं, किसी ने "घमंडी", किसी ने "सिर-फिरा", किसी ने "मक्खीचूस", किसी ने "जोक"······शिष्टतावश ये उपाधियाँ उनके पीछे ही बखानी जाती हैं।

पर वस्तुतः उनको जो उपाधिया मिली हुई हैं, वे बड़ी प्रभावोत्पादक हैं······उनकी उच्च शिक्षा की परिचायक हैं;······

एम० वी० वी० एस०, एम० एस० । उनका अपना बड़ा नर्सिंग होम है, और ऐसे मोहल्ले में है, जहाँ छोटे लोग, अपना बड़प्पन दिखाने के लिये कर्ज पर मकान बनवाकर पछताते हैं ।

मैंने उनको देखा भी है·····मोटे नाटे से हैं। चन्दलाता सिर, मोटा चश्मा, नितान्त साधारण व्यक्तित्व । पर व्यक्तित्व का वृत्ति-चातुर्य से क्या सम्बन्ध है ?

इतनी नामवरी होते हुए भी वे कई के लिये कुछ पहेली से थे, कई बातों में पारदर्शक, तो कई बातों में उनका आर-पार पाना मुश्किल । अभेद्य दुर्ग से । खैर, भूमिका लम्बी हो रही है, उनकी शोहरत के साथ । यह भी बात फैली हुई थी कि पैसे के बारे में वे बिल्कुल अमानुषिक थे ···एक ऐसी वृत्ति में, जो मानवता, और दया की वृत्ति समझी जाती है, वे अमानवीय थे । नहीं मालूम, यह बात कहां तक ठीक थी, पर कुछ भी हो, कहा-सुना यही जाता था ।

एक बार मुझ तक भी, कानों कान यह बात पहुँची कि उन्होंने किसी से कहा था······ "अगर फीस में रियायत चाहते हो तो जनरल हास्पिटल क्यों नहीं चले जाते ? वहाँ बिल्कुल मुफ्त इलाज हो जायेगा······" सोचने वाले चाहे कुछ भी सोचें, पर क्या ऐसी बातें कही जाती हैं ? तब मैं समझ सका कि वे सज्जन गाड़ी में सब कुछ कह-कहाकर क्यों "और" पर आकर अटक से गये थे । मैं भी मुस्करा दिया ।

मेरा घर भी उन्हीं के नर्सिंग होम के आस-पास है······किराये का । अड़ोस-पड़ोस के लोग आते रहते हैं, उनके मुँह कभी-कभी डा० आचार्य के बारे में प्रशंसा और सहानुभूति की बातें भी सुनीं ······जैसे वे किसी प्रचलित धारणा का विरोध कर रहे हों ····· "अरे भाई जब काम अच्छा करता है, तो क्यों नहीं उसके मुताबिक फीस वसूले ?"

"भाई, डॉ भ्राचार्य हैं बिल्कुल मुंह-फट भ्रादमी । फीस बोर्ड पर लिखी हुई है, इलाज करने से पहले ही फीस तय हो जाती है। फीस मंजूर हो, तो इलाज करवा लो, नहीं तो भ्रौर भी डॉक्टर हैं · ..."

"भ्ररे, एक्सपर्ट यूं ही थोड़े बनते हैं। शिक्षा पर ही हजारों खर्च होता है, फिर ढेर-सा एक्विपमेन्ट, नर्सिंग होम पर ही लाखों खर्च हुआ होगा । उस खर्च को भी तो निकालना है, फिर हर साल भ्रपने खर्च पर यूरोप जाते हैं ताकि नई-नई बातों की भ्रांखों देखी जानकारी मिले—इस सब के लिये पैसे चाहिये, भ्रौर एक डॉक्टर, डॉक्टरी न करके कमायेगा तो कैसे कमायेगा ?"

"इनके माता-पिता गरीब थे । गरीबी जो भुगत चुके हैं, वे ही जानते हैं गरीबी क्या बला है । भ्रच्छी डॉक्टरी हो तो क्या, भ्रगर पास धन-दौलत न हो, धन-दौलत के रास्ते न हों । यदि डॉ॰ भ्राचार्य पैसे बटोरते हैं तो क्यों न बटोरें ?"

ये सब बातें शायद उनकी शोहरत का "नामी" पाता थीं ।

मैंने डॉ॰ भ्राचार्य के बारे में इतनी भ्रच्छी-बुरी बातें सुनी हैं कि भ्रपनी कोई निश्चित धारणा नहीं बना पाया हूँ । शायद मैं इन बातों को याद भी न करता, यदि संयोग से हमारे एक मित्र भ्रपनी माता के साथ मेरे यहाँ न भ्राते । उनकी माता किसी भयंकर रोग से ग्रस्त थीं । मित्र ने कई से कई तरह का इलाज करवाया था, पर कोई फायदा न हुआ था । निदान ही न हो सका, तो चिकित्सा ही क्या होती ?

वे डॉ॰ भ्राचार्य के पास भ्राये थे । भ्रपने डाक्टर से उनके नाम एक सिफारिशी खत भी ले भ्राये थे । फिर मुझे साथ चलने के लिये जिद कर रहे थे । मैंने कहा, "मैंने डॉ॰ भ्राचार्य का नाम तो सुना है, पर उनको भ्रच्छी तरह नहीं जानता हूँ, किसी भ्रौर को ले जाभ्रो......"

"नहीं, कम-से-कम तुम उनकी शोहरत से तो वाकिफ हो ! मैं सिवाय तुम्हारे इस बड़े शहर में किसी और को नहीं जानता हूँ......"

"पर सुना है, वे बड़ी फीस ऐंठते हैं ! बड़े-बड़े लोग भी उनके पास जाते डरते हैं, बीमारी ठीक होती हो या न होती हो, पर चाँदी की अच्छी-खासी चपत लगती है......" मैंने अपने मित्र सुब्बाराव से कहा ।

"कुछ भी हो, बीमार को बीमार तो रहने नहीं दिया जा सकता !"

"फिर एक काम करो। यह सिफारिशी खत न दिखाना । उनका अन्दाज हो सकता है, जब इस आदमी ने डॉक्टरों पर इतना फूँका है, तो कुछ और फूँकते नहीं हिचकेगा । फीस देनी ही है, तो सिफारिशी खत वगैरह की क्या जरूरत है ?" मैंने कहा ।

"हूँ, अच्छा, तो चलो, हमारे बहाने ही उनसे परिचय कर लो......" सुब्बाराव उत्साह से आगे बढ़ा । हम डॉक्टर को ही घर बुला लाना चाहते थे ।

सुब्बाराव ने रास्ते में कहा "आगे क्या होगा, वह तो भगवान जाने, पर इस समय जो करना है, वह करके ही रहूँगा......अपनी ओर से कोई कसर न रखूँगा चाहे कंगाल ही हो जाऊँ ? नहीं तो जिन्दगी भर पछताता रहूँगा कि जो मुझे करना चाहिये था, और मैं कर सकता था, वह मैंने नहीं किया, समझे ?"

"हाँ, तुम्हारा कहना ठीक ही है......"

"जो कुछ मेरे पास था......थोड़ी-बहुत जमीन-जायदाद थी, उसे तो पहले ही बेच चुका था, अब माँ-बाप का मकान भी बेच दिया है । जरूरत पड़ने पर उन्हीं की चीज उन पर ही न खर्च की गई, तो किस काम की ......?" सुब्बाराव यह सब इस प्रकार कहता जाता जैसे दुनिया उसको अंगुली उठा-उठा कर मूर्ख बता रही हो,

श्रौर वह अपने कार्य को नैतिक आधार दे रहा हो। वह भी अपनी माँ को भाग्य के जिम्मे छोड़, हाथ पर हाथ रखकर, घर बैठ सकता था। वह कह रहा था "मैं भी छोटे-मोटे डॉक्टरों के पास जाकर तसल्ली कर सकता था, पर वह धोखा ही होता......"

"पर डॉ० आचार्य भी कोई बड़े डॉक्टर नहीं हैं......नहीं, मेरा मतलब उनकी उम्र से है......" मैंने न मालूम यह क्यों कहा, शायद उसको निरुत्साहित कर रहा था।

"बस ! मगर छोटी उम्र में भी तो लोग बड़े काम कर सकते हैं" सुब्बाराव ने इस प्रकार कहा जैसे वह अपना निश्चय बदलने के लिये तैयार न हो।

"श्रौर नर्सिंग होम शुरू किये भी यही चार-पाँच साल हुए हैं......" मैंने कहा। मैंने सोचा कि-कहीं आधी जानकारी पर, वह कोई ऐसा काम न कर जाये, जिसके लिये उसे बाद में पछताना पड़े।

"तो क्या हुआ, शोहरत तो बहुत है। अच्छा ही है, नयी प्रेक्टिस शुरू की है, इसलिये जी तोड़ मेहनत करते होंगे। शायद यही कारण है कि वे औरों से अधिक फीस लेते हैं।" सुब्बाराव कुछ और कहता यदि हम नर्सिंग होम के पास न आ जाते।

"यार तुम यह हर्गिज न कहना कि तुम सब बेच बाच कर इनको दक्षिणा सौंपने आये हो। मुमकिन है, इतना सब भी इनके लिये नाकाफी हो। दया किसको कहते हैं, यह डॉक्टर जानता ही नहीं है। पत्थर दिल किसी की गरीबी पर नहीं पसीजते......" मैंने सुब्बाराव के कान में कहा। हम तब डॉ० आचार्य के नर्सिंग होम के वेटिंग रूम में थे।

बढ़िया कीमती फर्नीचर, खिड़की और दरवाजों पर सुन्दर रंगों के परदे। तिपाई पर सजे सजाये गुलदस्ते, शीशे की-सी सफाई। स्प्रिट की उड़ती हलकी-हलकी बू। खिड़की के पास, एक

बड़ी मेज के पीछे एक सुन्दर युवती बैठी थी। सफेद पोषाक, शायद नर्स थी। ठाठ वाला नर्सिंग होम !

नर्स से मैंने अपना परिचय किया, सुब्बाराव का कराया। मैंने सोचा था कि वह बीमार या बीमारी के बारे में पूछेगी, पर सुब्बाराव को दौड़ती नजर से देखते हुए पूछा "जानते हैं, डॉक्टर साहब की कंसल्टेशन फी पचास है ?"

"बहुत अच्छा ।"

"डॉक्टर साहब अभी व्यस्त हैं, आपरेशन चल रहा है, अपना नाम वगैरह यहां लिख दीजिये······" नर्स कह रही थी।

"पर मैं तो बीमार नहीं हूं, मेरी मां है। डॉक्टर साहब को अपने साथ ले जाना चाहता हूं।" सुब्बाराव ने कहा।

"·······तो उसके लिये डेढ़ सौ रुपये अलग······" नर्स कह रही थी, और मेरी त्यौरियां चढ़ रही थीं। "जब रात भर का सफर करवा कर मद्रास लाये हो, तो क्या मेरे घर से वे यहां नहीं आ सकतीं ? पांच-दस रुपये में एम्बुलेन्स मिल जायेगी, डेढ़ सौ रुपये तो बचेंगे······दवाइयों के काम आयेंगे" मैंने हंसी में अपने गुस्से को उड़ा देना चाहा।

"क्या हम आपरेशन के बाद डॉक्टर साहब से मिल सकते हैं ?" सुब्बाराव ने पूछा।

"पर मैं कह नहीं सकती कब तक यह आपरेशन चलेगा······ आपसे पहले छः आदमी और प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप पहले टाइम निश्चित कर लीजिये······" नर्स ने कहा।

"तो कब टाइम मिल सकेगा ?" मैंने खीझकर कहा।

"शाम छः बजे······" नर्स ने नोट बुक देखकर कहा। हम दोनों सिर हिलाते-हिलाते बाहर चले आये। मैंने मन-ही-मन सोचा कि शायद रौब गांठने के ये तरीके हैं। अगर इनको 'सिरफिरा' कहा जाता है, तो लोग क्या गलती करते हैं ? इनको तो कहीं किसी

गुलाम मुल्क में गोरा अफसर होना चाहिये था······खैर !

०००० ०००० ००००

डॉ० आचार्य भले ही "घमंडी" कहे जाते हों, पर जब हम उनसे मिले तो वे बड़े मिलनसार लगे, मित और मधुरभाषी। व्यवहार में आकर्षक, विनय, और शालीनता।

सुब्बाराव ने बताया कि उसकी माता को पेट में दर्द होता था, इतना दर्द कि वे स्वयं नर्सिंग होम भी न आ सकती थीं।

"जब आप मुझे देखने इतनी दूर आये हैं, तो मुझे आपकी माता से मिलने जाना ही चाहिये। मगर आना तो उनको यहीं होगा ······यदि आप जनरल······" डाक्टर कहते-कहते इस प्रकार रुके जैसे सोच रहे हों कहना चाहिये कि नहीं।

"हमें जनरल हॉस्पिटल ले जाना होता तो उनको हम आपके पास ही क्यों लाते? हम तो आप ही के भरोसे आये हैं। मगर आपके यहाँ माँ ठीक हो गई तो ठीक है, नहीं तो भगवान ही मालिक है ····" सुब्बाराव की आवाज रुंधसी गई, और आँखें भर आईं। डाक्टर भी उनकी ओर यों देख रहे थे जैसे कोई असाधारण, अप्रत्याशित व्यक्ति आ गया हो······ "डाक्टर साहब फीस वीस की कोई परवाह न कीजिये ·····" सुब्बाराव ने हाथ मलते हुए कहा।

"शायद आप भी बहुत पैसे वाले हैं······" डाक्टर का "भी" पर विचित्र जोरथा। और कोई होता तो यह हँस कर कहता, और दूसरों से हँसने की अपेक्षा करता पर वे गम्भीर कुछ सोचने-सोचते खड़े रहे। "खैर, आपका मकान तो पास में ही है? ······ उन्होंने मुझ से पूछा।

"जी हाँ, ······किराये का, कम्पनी ही किराया देती है," मैंने घबड़ाते से कह दिया, कहीं वे मुझे मकान मालिक समझ अपनी फीस न बढ़ा दें। वे यह सुन मुस्करा दिये जैसे कोई उन्हीं पर ही मजाक कर रहा हो।

"आपके पास अपनी गाड़ी भी न हो, शायद कम्पनी की हो ......" डाक्टर ने कहा, उनकी मुस्कराहट के साथ आँखें कुछ खिलीं, और फिर जम सी गईं।

"जी, कार तो कम्पनी की ही है।"

"खैर, एक्विपमेन्ट तो सारा यहीं है, आप हमारे यहाँ से आदमी ले जाइये, वे उनको ले आयेंगे।" डॉक्टर ने सुब्बाराव से कहा। और अपने आदमियों को उनके साथ कर दिया। जब मैं उनके साथ जाने लगा तो उन्होंने मुझे रोका। मैं हिचका तो, पर उनकी दिखाई हुई कुर्सी पर बैठ गया। डॉ० आचार्य भी मेरी बगल में बैठ गये। "आपके मित्र क्या करते हैं?" उन्होंने पूछा।

"जी, कुछ नहीं, यही स्कूल टीचर हैं।" फिर मैंने यह सोच कर कि उसे स्कूल टीचर समझकर नीचा न देखने लगे, कहा "मगर इनके बड़े भाई मशहूर डॉक्टर हैं।"

"नाम ?"

"डॉ० कृष्णाराव।"

"हाँ, हाँ, वे मुझ से बहुत सीनियर थे, बड़े एक्सपर्ट हैं। कहीं उनकी सिफारिश पर तो ये मेरे पास नहीं आये हैं?"

"जी नहीं।"

"उन्होंने खुद क्यों नहीं अपनी माँ को देखा ?"

"मुझे नहीं मालूम......?"

"खैर, यह तो जानने की जरूरत भी नहीं है,......इनकी माँ की उम्र क्या है......।"

"चौंसठ या पैंसठ की होगी..." मैंने कहा। डॉक्टर साहब यह सुनकर कुछ गम्भीर हो गये। पास के कमरे में जाकर एक्सरे फोटो देखने लगे। सुब्बाराव उनको साथ लाया था। और मैं उन्हीं की ओर देख रहा था। उनके प्रश्नों का उद्देश्य समझने की कोशिश कर रहा था।

थोड़ी देर बाद सुब्बाराव अपनी माता के साथ आया। उनको डॉक्टर के कमरे में ले जाया गया। बीस-पच्चीस मिनट तक वे कमरे में रही, उनकी परीक्षा होती रही, हम बाहर चिन्तित खड़े रहे। कुछ न सोच पाते थे। न मालूम क्या हो? कितना और खर्च हो? और क्या-क्या कष्ट उठाने पड़े?

डॉक्टर जब अपने कमरे से निकले तो उनका मुँह पथराया-सा हुआ था। कोई चिन्ह नही, कोई भाव नही, वे सिगरेट पी रहे थे, और किसी चिन्ता में उलझे से लगते थे।

"आप इन्हें यही छोड़ जाइये।" डॉक्टर साहब ने कहा।

"क्यो, क्या बहुत सीरियस है?"

"सीरियस है, और नही भी है, ...सब ठीक हो जायेगा, आप बेफिक्र रहे।

"जी!"

"कहो, आपको भी तो सन्देह नही हो रहा है कि मेरे पास एक्विपमेन्ट है कि नही......जनरल हास्पिटल में होगा, या आप भी पेशेंट को लण्डन ले जायेंगे? नही, नही, आई एम सोरी, आप तो उन लोगो में नही है।" डॉ॰ आचार्य ने कहते-कहते धुएँ का बादल छोड़ा।

"तो कितने......" सुब्बाराव पैसे के बारे में इशारा करने लगा।

"नही, आप बेफिक्र रहिये, अभी उसके लिये समय है। इलाज तो हो जाये, बाद में फीस की सोचना......" डॉक्टर कहते-कहते मुस्कराये। हमें उनकी मुस्कराहट समझ में नही आ रही थी।

हम कह भी क्या सकते थे, हम नमस्कार करके चले आये।

०००० ०००० ००००

दो ढाई मास तक चिकित्सा चलती रही, कितनी ही परीक्षायें की गई। कितना कुछ और किया गया। न डा॰ आचार्य ने अपनी

ओर से कोई कसर उठा रखी थी, न सुब्बाराव ने ही।

जो कुछ वह घर से जमीन-जायदाद बेचकर लाया था, वह करीब-करीब खत्म हो गया था। ऊपर से बहुत-सा कर्ज भी लेना पड़ा था। डॉ० आचार्य सचमुच मामूली डॉक्टर न थे, और अभी उनकी फीस और नर्सिंह होम के बिल चुकता करने थे। न मालूम कितना और खर्च हो, सुब्बाराव चिन्तित हो या न हो, पर मित्र के नाते मैं उसके लिये चिन्तित था।

एक दिन डाक्टर साहब ने हमें अपने नर्सिन्ग होम में बुलवाया। हमने सोचा कि शायद बिल देने के लिये। सुब्बाराव जो कुछ पास पैसा था, वह सब लेकर, अपने को ढाढस देता, मुझे साथ लेकर उनके पास गया। हम दो ढ़ाई मास से, डॉ० आचार्य को, करीब-करीब रोज ही मिल रहे थे, पर उनके व्यवहार में न कोई घनिष्ठता आयी थी, न आत्मीयता ही। वही दूर-दूर का तटस्थ सम्बन्ध। हम घबराये हुए थे।

"अब आप अपनी माता जी को ले जा सकते हैं। वे ठीक हैं, अब आपको यह बताया भी जा सकता है, उनको एक प्रकार का सीरियस केन्सर था······" डॉक्टर कह रहे थे।

"मगर······बिल्कुल ठीक हो गई हैं न!" सुब्बाराव ने अपने अविश्वास को छुपाते हुए, अपने आल्हाद और आनन्द को व्यक्त किया।

"हाँ, फिलहाल तो ठीक है, शरीर हैं। रोग का तो शिकार होता ही है।······" डा० आचार्य कहते-कहते मुस्कराये।

"फिर फीस वगैरह?"

"कुछ नहीं, सब ठीक है।"

"जी, कुछ तो······।"

"जी, नहीं, आपने यह केस मुझे देकर मेरा सम्मान किया है, अब फीस देकर मेरा अपमान न कीजिये, फीस तो मुझे आपको

देनी चाहिये। मैंने कितना सीखा है इस केस से? इतने कम्प्लीकेटड केस को ठीक करने के लिये आपने मुझे उपयुक्त डॉक्टर समझा, मैं यही अपने लिये गर्व का कारण समझता हूँ। आपके भाई डॉक्टर हैं, और जानेमाने डाक्टर हैं, पर आप मेरे पास आये, मेरे भरोसे आये······आपने मेरा गौरव किया है, और मैं अपने ही *गौरव के लिये कैसे आपसे पैसे लूं? नमस्ते······"* डॉ॰ आचार्य हाथ झाड़कर अपने कमरे मे चले गये।

सुब्बाराव के आंसू झर रहे थे। वह भारीभरकम आदमी पिघल-सा गया था आश्चर्य में, आनन्द में, कृतज्ञता मे, विवशता में, या सभी के सम्मिश्रण में। मैं भी स्तब्ध था, जैसे मरुस्थल मे अयाचितअमृत मिल गया हो।

०००० ०००० ००००

कुछ दिनों बाद मैं डॉ॰ आचार्य से क्लब मे मिला। मेरा कुतूहल बना हुआ था कि उन्होंने सुब्बाराव से क्यों नही फीस ली थी। मैं यह साफ-साफ पूछ ही बैठा था।

"मैंने आपसे कह तो दिया था,······" डॉ॰ आचार्य ने पत्र-पत्रिकायें उलटते हुए कहा।

"हाँ, वह तो ठीक है, पर डॉक्टर साहब बात उतनी ही नही हो सकती, कुछ और भी है······।"

"काश, मैं अपनी माँ के लिये वह सब कर पाता, जो आपके मित्र ने किया है। इसने मुझे प्रभावित किया······मैंने उनकी माँ के साथ वही किया जो मुझे अपनी माँ के साथ करना चाहिये *······मैंने क्यों किया यह सब? शायद······।"* डॉ॰ आचार्य ने अपना वाक्य पूरा न किया, पत्रिका से नजर हटा कर मेरी ओर देखने लगे।

"हाँ, कहिये, शायद······।"

"हाँ, जिस मोहल्ले मे मैं रहता हूँ, वहाँ सब कुछ फैशन के लिये होता है······शायद यह बहुतों का ख्याल है, लोग नमि

होम भी फैशन के लिये आते हैं······जुकाम और छोटा-मोटा दर्द भी हो तो भागे-भागे आते हैं। आराम के लिये नर्सिन्ग होम में भरती हो जाते हैं······नर्सिन्ग होम क्या होटल है। उन लोगों में बड़ी फीस से डॉक्टर का बड़प्पन आँका जाता है। और अगर किसी को कोई बड़ी बीमारी होती है, तो वे झट किसी और बड़े हास्पिटल में चले जाते हैं, नहीं तो इलाज के लिये विदेश पहुँच जाते हैं। मुझे इस लायक नहीं समझते कि मैं उनकी बीमारी ठीक कर पाऊँगा······और आपके दोस्त ने······आप जानते ही हैं। एक ऐसा ही केस पहिले भी मेरे पास आया था, पर वे मुझे नालायक समझकर मरीज को लण्डन ले गये थे। जो फीस आपके दोस्त मुझे देते वे उसमें लण्डन जा सकते थे। खैर, हम भले ही पैसा बटोरते हों, हैं तो डॉक्टर ही······शायद मुझे यह सब नहीं कहना चाहिये था······खैर, कुछ लीजियेगा ?"

डॉक्टर साहब कह रहे थे और मैं उनके एक ऐसे व्यक्तित्व को देख रहा था, जो औरों के लिये आवृत-सा था······अभिभूत था।

एकाएक उसी समय मेरी नजर पास बैठे क्लब के कुछ सदस्यों की ओर गई, जो हमें घूर से रहे थे। उनकी अशिष्ट दृष्टि कहती-सी लगती थी······क्या "घमंडी", "सिरफिरा", "कंजूस", "मक्खीचूस" डॉक्टर है ? मैं मुस्करा दिया।

हे भगवान

मैं मन्दिर अक्सर नहीं जाता हूँ। या यूँ कहूँ कि जा नहीं पाता हूँ। मन्दिरों का मार्ग मेरा मार्ग नहीं है। पर जब कभी मैं मन्दिर की मूर्तियों के सामने नत मस्तक हो खड़ा होता हूँ, हमेशा मेरा मन कहता है, कि तुम काम में अपना मोक्ष देखो, हाथ जोड़कर, ब्रह्म के वर्णनात्मक पर्यायवाची पद गुनगुनाने में न तुम्हें सन्तोष मिलेगा, न स्वर्ग ही। 'अपने-अपने स्वभाव की बात है, दृष्टिकोण' की बात है।

जिस दिन मुझे उस नौजवान कन्ट्रैक्टर के यहाँ नौकरी मिली तो मैं मन्दिर गया, शायद जाना नहीं चाहिये था, फिर भी गया। भगवान को मैंने तो नहीं देखा है, पर जिन्होंने देखा है, शायद उन्होंने उसको उसी रूप मे पाया है, जो मन्दिर में मूर्तिरूप है। मैंने उस मूर्ति के द्वारा भगवान की कल्पना करके उनको अपने धन्यवाद पहुंचा दिये।

किन्तु मन तब भी उद्विग्नता सा रहा''''''क्या वाहियात काम कर रहे हो? क्या भगवान भी हाड़-मांस का बना मानव है, जो तुम्हारी कृतज्ञता और धन्यवाद का मोहताज हो? तुम काम करो, काम करते जाओ, जब वक्त आयेगा, अगर ब्योरा मांगा गया और अगर तुम दे सको, तो दे देना।

'हाँ, तो मैं काम पर जुट गया। कभी मुझे बाहर नये मकान के पास, मजदूरों की निगरानी करने भेजा जाता तो कभी दफ्तरों की धूल छाननी पड़ती। हर कोई जो ऐसा मानता है, या

पाँच-दस आदमियों को काम देता है, तो न मालूम क्यों हर किसी को, चोर या कामचोर समझता है। शायद कामचोर हैं भी। मुझे नहीं मालूम। मैं ईमानदार रहा हूँ, भले ही अफसरों के जूते चाटे हों, आमद-खुशामद की हो। किसी को मैंने चोर नहीं समझा। कर्मपन्थी इस देश में, जहाँ हर कोई अपने कर्म का फल भुगतता है, ऐसे सोचूँ भी तो कैसे सोचूँ? इसी वजह से मुझे यह निगरानी का काम जंचा नहीं। पर रोजी रोटी के लिये मैंने बहुत कुछ किया है। कोसते-कुढ़ते ही सही। इसलिये यह भी किया।

पर जल्दी ही मैं जान गया कि धूप और बारिश में मुझे इन मजदूरों की निगरानी नहीं करनी चाहिये थी। कहीं और करनी थी। ज्यादह से ज्यादह वे थक थकाकर खाली ही तो बैठते हैं! चोरी भी तो करते हैं तो यह पाँच दस रुपयों के माल की।

एक दिन मुझे कन्ट्रैक्टर साहब ने अपने सीमेन्ट के गोदाम में भेजा। सीमेन्ट के कुछ वेगन आये थे। उनको एक तरीके से, हिसाब से गोदाम में रखवाना था। बहुत से मजदूर वहाँ भी लगे हुए थे।

बड़ा गोदाम था। तीन बड़े-बड़े लम्बे-लम्बे कमरे। एक कमरे में यानी सामने के कमरे में, दो मेजें रखीं थीं और एक ओर शहतीर, लकड़ी, रस्सी, बालटी, वगैरह। ऐसा लगता था, कन्ट्रैक्टर का दूसरा आफिस यहाँ भी काम करता हो।

दूसरे कमरे में, सीमेन्ट के बोरों का पहाड़ सा था। बड़े कन्ट्रैक्ट थे। बड़ा सा कन्ट्रैक्ट मिला था, सीमेन्ट के पहाड़ की जरूरत भी थी।

मैं जानता हूँ कि आजकल सीमेन्ट सोने के दाम बिकता है, सीमेन्ट कन्ट्रोल भी है। आने की देर होती है कि यह तुरन्त खप जाता है, फिर इन्होंने सीमेन्ट का यह पहाड़ कैसे जमा कर लिया!

मैं यों अचम्भे में धीमे-धीमे उस दरवाजे के पास गया, जो तीसरे कमरे में जाता था। दरवाजा बन्द था। ताला लगा था।

पर कमरे में से दो-तीन आदमियों की इस तरह आवाज आ रही थी, जैसे उनमें से कोई एक बहरा हो और दूसरा उससे चिल्ला-चिल्लाकर कुछ कह रहा हो। जब आदमी काम कर रहे हैं, तो इस तरफ ताला क्यों लगा है ? मुझे कुछ समझ में नहीं आया। उस समय कोई विशेष सन्देह भी नहीं हुआ। आखिर सीमेन्ट के गोदाम में जाली नोट तो बनाये नहीं जायेंगे ?

मैंने फिर भी अपनी उत्सुकता को लगाम दिया और निरीक्षण कार्य करके पहले कमरे में कुर्सी पर बैठ गया और सीमेन्ट के बोरों का ब्यौरा लिखने लगा। जब सब बोरे दूसरे कमरे में रखवा दिये तो उस कमरे में भी ताला लगा दिया। पर अब उस कमरे में से कोई आवाज नहीं आ रही थी। क्यों आती ? सीमेन्ट का गोदाम था, कोई सीमेंट की भट्टी तो थी नहीं कि चौबीसों घण्टे गड़-गड़ का शोर बना रहता।

लोरी के मजदूर बोरियाँ रखकर चले गये। मैं भी इतमीनान से बैठ गया। पर थोड़ी देर में तीसरे कमरे से फिर आवाज आने लगी। सम्भव है इन दोनों कमरों में नीरवता न होती तो वह आवाज नहीं आती। कह नहीं सकता।

फिर एकाएक ऐसा लगा वहाँ कोई पाँच दस आदमी आये हों। उत्सुकता काबू में रखना कठिन हो गया। मैं उठा। कमरे में तो नहीं जा सकता था। गोदाम की बगल में से पिछवाड़े की ओर गया। दोनों कमरों के बगल में तो कुछ जगह थी, पर वह कमरा चौहद्दी से बिल्कुल सटा था। चौहद्दी ही उसकी एक तरफ की दीवार थी। साफ था कि यह कमरा बाद को जोड़ा गया था।

मैं चक्कर लगाकर, पिछवाड़े की उस बन्द गली में गया। उस कमरे का उस तरफ भी छोटा-सा दरवाजा था। छोटा शायद इसलिये कि आज जहाँ दरवाजा था, वहाँ कभी खिड़की रही होगी। जहाँ खिड़की तोड़कर दरवाजा बना था, वहाँ अर्ने

भी नहीं लगी थी, अगर यह कमरा अलग तौर से बना था तो यह दरवाजा नये तौर से जोड़ा गया था।

दरवाजा खुला था। दरवाजे के किवाड़ों पर सीमेंट इस तरह जमा था, जैसे सीमेंट का रोगन ही उस पर चढ़ा दिया गया हो। दरवाजे के सामने दो-चार गाड़ियाँ खड़ी थीं। एक पर तो दो-चार बोरे सीमेन्ट के थे भी। मैं चौंका, क्योंकि सीमेंट का लाया जाना, और ले जाया जाना सामने के कमरे में से, हम लोगों के मार्फत होता था। फिर यहाँ सीमेन्ट के बोरे कहाँ से आये? क्या इस कमरे को हमारे कन्ट्रैक्टर साहब ने किसी और को किराये पर दिया है?

मुझे न मालूम क्यों एक क्षण ऐसा लगा. जैसे मैं भी कोई शर्लक होम्स का चेला-चपाटा हूँ। धीमे-धीमे अन्दर गया। वहाँ दो आदमी ऐसे थे, जिनको मैं जानता था, जिनको मैंने दो-चार बार आफिस में देखा था। वे भी मुझे जानते थे, क्योंकि वे मुझे कुछ पैसे मालिक को देने के लिये सौंप गये थे। जहाँ तक बहियों का सवाल था, उस रुपये-पैसे का हिसाब किसी बही में न था। पर मैंने उस बारे में कोई पूछताछ नहीं की थी और कुछ-कुछ भान हो रहा था।

लेकिन मुझे देखते ही वे लोग इस तरह चौंके, जैसे कोई इंस्पेक्टर आ गया हो और वे हाथ उठाकर खड़े हो गये हों। फिर वे बत्तीसी खोलकर यों खिसियाने लगे, जैसे मैं भी उनका ममेरा भाई हूँ। वहाँ दो अजनबी भी थे। वे रुपये गिनकर दे रहे थे। एक बोरे के पन्द्रह-पन्द्रह रुपये। मैं चौंका। यानी वे बोरे, जो हमें कन्ट्रोल दाम पर परमिट पर मिले थे, यूँ काले बाजार में बेचे जा रहे थे।

कन्ट्रैक्टर काम का ठेका लेते हैं, पुण्य कमाने का तो ठेका लेते नहीं हैं। जब कन्ट्रोल है तो काला बाजार भी है। यह कार्य कारण सम्बन्ध है। सोलह आने दार्शनिक सत्य। मैंने न सोचा था कि यह नौजवान कन्ट्रैक्टर इतनी जल्दी, घुट-घुटाकर, ये काले कारनामे भी

करने लगेगा। कम्बख्त, यह रुपये का चस्का ही कुछ ऐसा है, कि देवता को भी आदमी बना देता है और आदमी को जानवर। गनीमत है कि जानवर मेरी बात नहीं समझते। नहीं तो वे भी मेरी इस बात पर शायद ऐतराज करते।

फिर भी है तो यह अपराध ही। कुछ-न-कुछ तो किया ही जाना चाहिये। देश को सीमेन्ट की जरूरत है और पैसे की भी और यहाँ दोनों ही चीजें यों जाया की जा रही हैं। अगर इनको इस समय सीमेंट की जरूरत नहीं है तो इसे लेते ही क्यों हैं? अगर ले भी लिया तो उसको काले बाजार में बेचते क्यों हैं?

मुझे वहाँ आये हुए अभी एक मिनट भी न हुआ था कि इतनी सारी बातें एक साथ मेरे मन में कौंध गईं।

"अरे भाई, ये रुपये का लेन-देन क्या हो रहा है?" मैं चुप न रह सका।

"हैं, हैं, हैं......" वह हँस पड़ा। उसने कोई जवाब न दिया।

"क्यों भाई, इसके हिसाब-किताब की कोई जरूरत नहीं है?" मैंने फिर पूछा।

हिसाब तो आप रखते हैं, हमारा काम तो बस, इस रुपये को मालिक तक पहुँचाने का है।" वह आदमी यह सब इस सर्राटे के साथ कह गया जैसे एक शब्द के साथ उसका साहस भी बढ़ता जा रहा हो।

"यह लो भाई," वह अजनबी उस आदमी को रुपया दे रहा था और घूर मेरी ओर रहा था। मानो कोई गुनाह करते-करते रंगे हाथ पकड़ा गया हो।

बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह यहाँ से १५ रुपये बोरे लेकर बाजार सोलह रुपये में बेचेगा। कई लोग ऐसे हैं, जो 'सीमेंट' हैं, भले ही उसका दाम कुछ भी हो।

"हूं......" मैं कुछ-कुछ सोचता-सोचता वहीं खड़ा रहा ।

"बाबू, यहां खड़े रहोगे तो दम घुट जायेगा ।"

"क्यों, कुछ और लेन-देन का काम है ?"

"नहीं बाबू, हमको भी तो काम करना है !"

"करते जाओ, हमने क्या तुमको रोका है ?" मैंने कहा ।

"अच्छा, साहब जब इतना सब कुछ देखा है, तो यह भी देखिये । अबे ओ, ले आ, वो बोरा !"

देखता क्या हूं, कि एक-एक बोरा सीमेन्ट का लाया गया, एक राख का और एक खाली । उसने दोनों को मिलाया, धूल उठी । मैं खांसने लगा, सचमुच दम घुटने लगा ।

मगर मेरे देखते-देखते, दो बोरों के तीन बोरे सीमेंट के हो गये । चार हो गये । दिन दहाड़े यह अन्धेर ! यानी जो सोलह रुपये देकर एक-एक बोरा खरीद रहे थे, वे खालिस सीमेंट भी नहीं पा रहे थे । मकान बनते ही यदि दरारें फूटती हैं, तो क्यों न फूटें ? मकान खड़े हैं, यही ताज्जुब की बात है ।

मैंने सोचा जो मैंने और जगह किया था, यहां भी करना होगा । अधिकारियों को इत्तिला देनी होगी । पर कुछ सोचकर रह गया । आखिर पेट का मामला है, जगह-जगह दर-दर भटकने के बाद यह नौकरी मिली है । अगर उससे भी हाथ धो बैठा तो ? इतना सब साहस करता हूं, दिखाता हूं, पर अभी तक मुझ में मरने का सहास नहीं है !

अगले दिन जब दफ्तर पहुंचा तो उस नौजवान कन्ट्रैक्टर को सिर ऊंचा करके देख भी न सका । गुनाह वह कर रहा था और दिल मेरा घुट रहा था । बनाने वाले ने भी मुझे कैसा बनाया है !

इतने में उन्होंने मुझे बुलाया । मेरे हाथ में उन्होंने कुछ नक्शे दिये । "इन्हें ले जाकर, आप सीमेन्ट आफिसर से परमिट ले आइये ।"

"अच्छा साहब, मगर इन नक्शे पर तो सीमेन्ट कभी का मिल चुका है ! मकान भी बन चुका है !"

"हाँ-हाँ, एक नक्शे में दो मकान भी तो बन सकते हैं। एक नया बन रहा है। जरा अक्ल इस्तेमाल करो। काम हो सकता है, समझे !"

"जी समझ तो गया, पर मेरे बस की बात नहीं है। यह मेरा तजुर्बा इस बारे में काफी नहीं है।"

"आप तो ऐसे कह रहे हैं, जैसे हम कोई गुनाह कर रहे हैं, हम कोई गुनाह नहीं कर रहे हैं। फिर आप भी कौनसे दूध के धुले देवता हैं ? आप जा सकते हैं !"

नक्शे किसी और के हाथ भेजे गये। न मालूम उनका क्या हुआ ? क्या होगा ? न मालूम इनका पाप का भंडा कब फूटेगा ?

आखिर ये लोग यह क्यों करते हैं ? मैंने अपने दोस्त पिल्ले से उस दिन शाम को पूछा। उसने कहा "क्यों न करें ?" बिना मकान बनाये अगर मकान बनाने के बहाने ही, महज सीमेन्ट पर ही इतना फायदा मिलता हो, तो क्यों न उसे बटोरें ?"

"सभी दुनिया में यही तो कर रहे हैं ! अगर सीमेंट नहीं है तो कुछ और है, सब तुम्हारे जैसे उल्लू थोड़े ही हैं !"

"सभी ?"

"हाँ-हाँ, तुम्हारे और हमारे तबके के लोग नहीं, तो और तो कर ही रहे हैं, नहीं तो यह काला बाजार कैसे पनप रहा है ?"

उसने कहने को तो कह दिया मैंने भी सुन लिया, पर मन में सुइयाँ चुभती रहीं। ......सरकार कुछ हद तक ही भला कर सकती है, गुनाह करने पर किसी को पकड़ सकती है, सजा दे सकती है, पर किसी को गुनाह करने से तो नहीं रोक सकती ! बात स्वभाव की है, मनोवृत्ति की है और मनोवृत्ति तो शायद भगवान् ही बदल सकते हैं।

मैं मन्दिर प्रायः नहीं जाता। पर उस दिन निराशा में मैंने सोचा कि उसकी दुनिया की, उसके कही दरबार में, शिकायत करूँ।

भगवान का कोई रूप हो या न हो, मन्दिर की मूर्ति उसकी प्रतिकृति हो या न हो, पर जिस किसी ने उसकी मूक, निर्जीव, निश्चेष्ट मूर्ति के रूप में कल्पना की है, वह वस्तुतः उस भगवान और उसके संसार का भेद जानता होगा। शायद भगवान मूक होकर ही, अपना संसार देख सकता है।

मैं कुछ सोचता-सोचता बाहर निकल गया। कितने ही प्रश्न, प्रश्न ही प्रश्न और वे सीमेन्ट की धूल की तरह मेरा दिल और दिमाग घोंट रहे थे और कोई सीमेंट का व्यापारी मन्दिर में जोर-जोर से घंटा बजा रहा था।

शायद कोई इन सब वातों के वारे में सोचता भी न, अगर कोटय्या होहल्ला न करता, रोता-धोता न। कोटय्या हस्पताल के मामूली आदमियों से भी अधिक मामूली है। मरा-पिटा किसान मजदूर। कभी एक ड़ेढ़ एकड़ जमीन थी. पर पास की नदी में वाढ़ आई, और वह जमीन कटकटा कर उसमें जा मिली। तव से वह दूसरों की खेती में मजदूरी करता है। खास पढ़ा-लिखा नहीं है, निरा काला अक्षर भैंस वरावर भी नहीं। अखवार वाँच लेता है।

उसकी पत्नी गर्भवती थी, नवाँ महीना आते-आते उसने पैर सूज गये। रक्तचाप भी वढ़-वढ़ा गया, और भी कितनी ही उलझनें। उसने अपने मालिक की वैलगाड़ी माँगी, और उसमें अपनी पत्नी को लिटाकर वह धम्मपट्नं पहुँचा। वीस मील तक कोई हस्पताल न था, डॉक्टर न था।

हस्पताल के फाटक के पास पहुँचा तो रोक दिया गया। वहुत मिन्नत करने के वाद और चवन्नी हाथ में थमाने के वाद, दरवान ने उसे अन्दर जाने दिया। शायद कुछ सफर के कारण, या किसी और कारण. हस्पताल में घुसते ही, उसकी पत्नी वेहोश हो गई। कोटय्या ने सोचा कि लोग भागे-भागे आयेंगे ······दो चार आये भी, पर जिनको आना चाहिये था, वे नहीं आये; हस्पताल है, शायद वहाँ वेहोशी भी मामूली वात है। किसी को मनाया, किसी के हाथ जोड़े, किसी के पैरों पड़ा, पर सव यूँ देखकर चलते हुए जैसे उससे भी अधिक कोई सीरियस वीमार हो, और वे उसको देखने में लगे हों।

कोटय्या दुनियादार न था, हस्पताल भी पहली वार आया था, पहली वार उसकी पत्नी गर्भवती हुई थी। पैसे वाला न था कि पैसे की करामात जानता। इतना जाना-सुना भी न था कि उस हस्पताल में विना "मामूल" के मुरदे भी नहीं हटाये जाते थे। वह चिन्तित खड़ा रहा। पसीना-पसीना हो गया, घुटने थरथराने

लगे। हट्टा-कट्टा आदमी, कांपने लगा……भय, विवशता, अज्ञान, अन्धकार !

कुछ देर बाद, एक लेडी डॉक्टर आई, बाद में उसको पता लगा कि उनका नाम पद्मा था। उन्होंने कोटय्या की पत्नी को अन्दर भरती करवा दिया। नर्सों ने उनके सामने उसे देखाभाला भी और कोटय्या बाहर खड़ा खड़ा भगवान को हाथ जोड़ रहा था। "……कुछ भी हो……सुशीला जीती रहे, बच्चा हो तो भला, न हो तो भला पर वह जिन्दी रहे, हे भगवान…… " नर्सें अन्दर आ जा रही थी, उस कमरे में और भी कई मरीज थे। कोटय्या उनको आता जाता देख, न मालूम क्या-क्या सोच रहा था… ऐसा भी क्या हो गया है सुशीला को, कि इन लोगों की इतनी भगदौड़ मची हुई है ! उसकी फिक्र बढी, उसका डर बढा।

कुछ देर बाद, उसको बताया गया कि प्रसव के पहले ही, उसकी पत्नी के प्राण चले गये। वह लम्बी साँसें खीचता अन्दर गया। उसने देखा कि उसकी पत्नी वहीं पड़ी थी, जहाँ उसको पहले लिटाया गया था। कुछ नहीं किया गया था। नर्सों की भगदौड़ शायद किसी और के लिये थी। बेपढ़ ही सही, कोटय्या इतना बुद्धूबुक न था कि यह आँखों देखी बात न समझ सके।

दो चार आदमियों ने आकर मुरदा एक तरफ ले जाकर रख दिया, और उसके इधर-उधर इस तरह प्रदक्षिणा करने लगे जैसे उनको "मामूल" मिलना अभी बाकी हो। किसी की पत्नी मरती है तो मरे, अपनी बला से। उनको क्या ? उन्होंने काम किया है और उनको काम के पैसे मिलने ही चाहिये। कोटय्या पत्नी को देखता-देखता खड़ा-खड़ा जम-सा गया। वे उसको घूरते-घूरते चले गये।

कोटय्या का गाँव दूर था, और धम्मपट्टन में उसकी जान-पहिचान का कोई न था। क्या करता ? मुरदे को उसी गाड़ी में,

वह गाँव ले गया। बैलों को अगर गाँव का रास्ता याद न होता तो जाने वह कहाँ पहुँचता ! गाड़ी अपने आप चलती जाती थी, और वह बिलखता, सिसकता, पत्नी की बगल में, गाड़ी में ही पड़ा रहा।

"पत्नी ही तो सब कुछ थी ! इस संसार में जब वह नहीं है, तो मेरे लिये ससार ही नहीं है .....मैं भी उसी रास्ते चला जाऊँगा, जिस रास्ते वह गई है, उसी जगह जाकर धरना दूँगा जहाँ वह जीने के लिये गई थी, और अब मरकर वापिस जा रही है...... ये हस्पताल नहीं बूचड़खाने हैं..... मर जाऊँगा, पर मरते-मरते दुनिया की आँखें खोलता जाऊँगा......" उसका दु:ख, इस रोष में उमड़ता, और रोष एक दृढ़ निश्चय के रूप में उसके मन में जड़ कर गया।

"जीकर क्या पाऊँगा ? मर जाऊँगा......यही बात कोटय्या के मन में गाड़ी के पहिये की तरह चक्कर काटती जाती थी;...... दु:ख, क्रोध, प्रतिकार, सभी मन में गाड़ी के चरमर की तरह गुन-गुना रहे थे।

गाँव में हर किसी ने हाथ दिया, और पत्नी का दहन संस्कार हो गया। कोटय्या अपनी सूनी झोंपड़ी में पल भर न बैठ सका। तेरहवीं के होते ही, वह धम्मपट्टनं चला आया। हस्पताल के सामने भूख हड़ताल करने लगा। कभी गाँव में गाँधी जी के नारे लगाये थे, पर यह न सोचा था कि कभी उसे यूँ सत्याग्रह करना होगा।

एक दिन बीता, कहीं कोई खलबली न मची। दूसरा दिन बीता, कहीं कोई हल्लागुल्ला नहीं। तीसरा दिन भी बीता, किसी के कान पर जूँ तक न रेंगी। चौथा दिन बीता, कहीं कोई सनसनी न हुई. धम्मपट्टनं का हस्तपाल जैसे रोज चलता था, चलता रहा।

कोटय्या ने हस्पताल के फाटक के पास नीम के पेड़ के नीचे धरना दे रखा था। और उसके पास एक कपड़े पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा

था "इस हस्पताल से प्राणखाऊ घूसखोरी हटाग्रो !" यह कपड़ा हुआ वह शायद स्वयं न लगाता यदि उसको सुझाव न दिया जाता। इसके बावजूद, उसको इलाज के लिये श्राया हुआ, गँवार समझकर लोग नजर फेरकर चले जाते थे।

जब वह ठीक तरह न खड़ा हो पाता था, न बैठ ही पाता था, वह कड़ी जमीन पर लेट गया। लोग उसको पागल समझ रहे थे, और जो कुछ हस्पताल में हो रहा था, असाधारण नहीं लग रहा था, इलाज करवाने के लिये अगर पाँच-दस रुपये यूँ बिखेरने पड़ जायें, तो क्या खराबी है। पर वे यह न सोच पाते थे कि वैसे न बिखेरे जाने पर, इलाज न किया जाय तो उसमें खराबी है। खैर !

पाँचवें दिन धम्मपट्टन की बड़ी डॉक्टर, पद्मा, जिनकी मेहरबानी से उसको पत्नी को एक कमरे में फर्श पर ही सही, कम-से-कम जगह मिल गई थी उससे मिलने आयी। समझाया-बुझाया, पर वे भी शायद समझ न पा रही थीं कि जिसको हस्पताल में दाखला नहीं चाहिये, उसको हस्पताल के बाहर धरना देने की क्या जरूरत है। हाँ, उन्होंने अपना अफसोस जरूर प्रकट किया, पर कोटय्या ने अपना सत्याग्रह यथापूर्व जारी रखा।

अगर उन दिनों समाचार-पत्रों में, एकाएक भ्रष्टाचार के विरुद्ध खबरें न छपतीं तो कोटय्या शायद 'शहीदों' में शामिल हो जाता, और शहीद न माना जाता। शहर के दो-तीन नेता उससे मिलने आये। उसने उनसे अपनी शिकायत की, उसको शिकायत करता देख, और भी कई शिकायत करने लगे। देखते-देखते शिकायतों का ढेर-सा लग गया। उसके बाद तो कोटय्या के पास हमेशा छोटी-मोटी भीड़ बनी रहती। शायद जो चिंगारी उसने शुरू की थी, वह जलने-बढ़ने लगी थी।

बात इतनी बढ़ी कि सरकार तक पहुँची। उस छोटे शहर

में बड़ी सरगर्मी फैल गई। अफसरों की दौड़-धूप बढ़ने लगी। पर कोटय्या की भूख हड़ताल जारी रही। वह दिन प्रति दिन कमजोर होता जा रहा था। हालत नाजुक थी। उसको बताया गया कि जिस डॉक्टर को वह अपनी पत्नी की मौत के लिये जिम्मेदार समझ रहा था, उनका तबादला कर दिया जायेगा।

परन्तु कोटय्या ने कहा "मैं किसी का तबादला-वगैरा नहीं चाहता, मैं चाहता हूँ कि सारे मामले की पूरी तहकीकात हो, और इन्तजाम हो कि बिना घूसरिश्वत के हर किसी का इलाज हो, और जब तक वह नहीं होता, मैं अपनी हड़ताल नहीं तोड़ूँगा।"

तहकीकात करना तो इसने को कुरेदना था। बहुत आनाकानी की गई। बाद में सरकार स्थानीय दबाव के कारण, तहकीकात के लिये मान गई।

कोटय्या भूख हड़ताल के कारण, इतना कमजोर हो गया था, कि उसकी हालत अब और तब की हो गई, यद्यपि उसने हड़ताल अब तोड़ दी थी। उसे स्वास्थ्य सुधार के लिये उसी हस्पताल में भर्ती कर दिया गया।

०००० ०००० ००००

पूछताछ शुरू हुई। बहुत सी बातें प्रकाश में आने लगीं। कई बातें जो बड़ों की आड़ में होते थे, बाहर आये। अस्पताल का रंग कुछ-कुछ विस्फोटक होने लगा था। कई नाम ऐसे थे, जिनके बारे में बड़ी डॉक्टर पद्मा को जानकारी न थी, वह शायद आँखें मूँद बैठी थी। जो कुछ भी हो, जब तक उसका हिस्सा उसके पास आ जाता था, उसको कोई फिक्र न थी। कौन जानता था कि कोई सिरफिरा बेचारा यूँ आफत करेगा, और तबाही लायेगा।

डॉ० पद्मा को कमेटी के सामने गवाही देने के लिये बुलाया गया। उन्होंने पहले छुट्टी पर जाने की सोची। फिर बीमारी का

बहाना, किया, आखिर इधर-उधर के डोरे भी खीचने पड़े। पाँच छः दिन के लिये सुनाई मुल्तवी कर अन्त मे डॉ० पद्मा को कमेटी के सामने पेश किया गया।

डॉ० पद्मा की साँसें एकाएक लम्बी हो गई। दुनिया भर के ठेकेदार दूध के ठेकेदार, रोटी के ठेकेदार, दवाइयों के दूकानदार ······शहर के और कई लोग, जो हस्पताल मे कभी न कभी मरीज थे, उनको यूँ देखने लगे, जैसे कोई अपराधिनी रगे हाथ पकड़ी गई हो। कम्बख्त इन लोगो मे एहसान मानने की भी तमीज नही है। इनकी बीमारियाँ ठीक क्या हुई कि अब ये मुझ पर ही ईंट पत्थर फेंकने को उतारू है। डॉ० पद्मा की लाल पीली होती आँखें कहती-सी लगती थी।

डॉ० पद्मा ने यह भी देखा कि सुनवाई कौटय्या के केस तक ही सीमित न थी। उनका ख्याल था कि और बातो की पूछ-तलब न होगी, पर उन्होने यह पाया कि सारे हस्पताल के बारे मे, वहाँ के कर्मचारियो के बारे मे तहकीकात हो रही थी। वे शायद इसके लिये तैयार न थी। कुछ घबरा गई।

कई ऐसे प्रश्न किये गये, जिनका जवाब उनसे नही बनता था। वे कैसे जाने कि उनके नाम पर, उनकी नाक के नीचे ही इतनी सब कुछ गन्दगी थी घूसखोरी थी। तैयार न थी, इसलिये कई उत्तर ऐसे दे गई जिनसे औरो की नौकरी पर भी आँच आने की सम्भावना थी।

सुनवाई डॉक्टर पद्मा की हो रही थी, और सारे हस्पताल मे शहर मे कुहराम मचा हुआ था। हर कोई इसके बारे मे ही पूछताछ कर रहा था। सब जगह सनसनी फैली हुई थी।

दूसरे दिन फिर डॉक्टर पद्मा बुलवाई गई। पिछले दिन जो सुराख की तरह शुरू हुआ था, पूछतलब के सिलसिले मे वह एक बडी सुरग-सी हो गई थी। कई की पोल खुली। कई का भण्डा

फोड़ हुआ । डॉ० पद्मा, सम्भव है, यह सब न बताना चाहती थ, पर चुप भी न रह सकी थीं ।

काफी कुछ जानकारी मिल गई थी, फिर भी, साफ था और भी कई मुख्य बातें थीं, जो समिति से छुपी थीं और छुपाई जा रही थीं ।

डॉ० पद्मा दो-तीन दिन हस्पताल न गई । वे सचमुच कुछ अस्वस्थ थीं । सुनवाई भी न हो रही थी । उनके रहने की व्यवस्था, अस्पताल के ग्रहाते में ही थी । वे बुरी तरह भयभीत थीं । स्थिति ऐसी थी कि हस्पताल छोड़कर कहीं जा भी न सकती थी । शायद उन्होंने सोचा भी न होगा कि उनको कोई विशेष रक्षा की आवश्यकता थी ।

उस दिन रात भी, उस हस्पताल में उसी तरह आयी जैसे और दिन आया करती थी । पर सवेरा कुछ और तरह का था । हस्पताल के अन्दर बाहर सब जगह होहल्ला हो रहा था । बड़ी भीड़ लगी हुई थी । मुँह अन्धेरे किसी ने हस्पताल में डॉ० पद्मा को मार दिया था और पुलिस ने कोटय्या को पकड़ लिया था ।

डॉ० पद्मा का मार दिया जाना समझा जा सकता था, पर हत्यारा कोटय्या ठहराया जायेगा यह हर किसी को समझ में नहीं आ रहा था । परन्तु अब गवाही उसके विरुद्ध थी ।

जिस कमरे में रखा गया था, वह डॉ० पद्मा के मकान के पास था । वह अब पूर्ण स्वस्थ भले ही न हुआ हो पर चलफिर सकता था । उसके पास हस्पताल की ही, खून से तरबतर सर्जिकल नाइफ पाई गई, जिससे कहा जा रहा था, उसने डा० पद्मा की हत्या की थी । उसके कपड़ों पर खून के धब्बे भी थे ।

वह इस कद्र घबरा गया था कि न मालूम क्या-क्या बड़बड़ा रहा था । पुलिस को यह भी बताया गया कि उसने अपनी पत्नी की मृत्यु के लिये यूँ डॉ पद्मा से बदला लिया था ।

पुलिस उसको चला कर वैन की ओर ले आ रही थी, और कोटय्या गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहा था" ...... "मैं निर्दोष हूँ, मैंने यह हत्या नहीं की है। मैं कुछ नहीं जानता, मुझ पर यूँ ही झूठ-मूठ हत्या का अपराध थोपा जा रहा है ..." पर कोई उसकी बात सुनता न लगता था। उस हस्पताल मे, जहाँ बड़ी-बड़ी बातें भी मामूली समझी जाती थीं, शायद यह एक मामूली घटना थी।

बड़ी-बड़ी खिड़कियों के पीछे, वर्दी पहने "मामूल" के आदी मुलाजिम मुस्करा रहे थे, यूँ खिलखिला रहे थे जैसे कुछ छुपाने की कोशिश कर रहे हों, पर उनके मन कह रहे थे ...... जो उनके बारे मे और भेद बता सकती थी, वह डॉ० पद्मा जान से गई, और अपराध भी उनके सिर पर न आकर, किसी गँवार के सिर पर मढ़ दिया गया था। हो भला इस कोटय्या का !"

कोटय्या शायद न जानता था कि वह एक ऐसी गन्दी नाली में आ पड़ा था, जहाँ अच्छी चीज भी, गन्दी हो जाती है, और गन्दगी ही गन्दगी को ढकेलती हुई जाती है।

कोटय्या ससार छोड़ना चाहता था, पर वह न जानता था कि उसके हाथ पैर बाँध कर, उसे धकेलने का यूँ प्रयत्न किया जायेगा। उसकी हालत उस बैल की जोड़ी की तरह थी, जो बीयाबान जगल मे, घर का रास्ता भूल गई हो।

राव साहब

आर० वी० एम० जी० राव बड़े आदमी हैं, बड़े खानदान के, बड़े जानेमाने, बड़े मशहूर !

कभी रईसी थी, जमींदारी थी, धाक थी, हैसियत थी, मगर आज कुछ भी नहीं है। लेकिन खानदानी कुछ ऐसी पुरानी बातें हैं, जो उन्हें निभानी पड़ती हैं, मसलन जिनको कल तक रियाया समझते थे, उनमें से किसी के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर नहीं चल सकते। चाहे कार का खर्च कर्ज लेकर ही चलता हो, पर उसे रखते हैं। छोटेमोटे लोग इसे क्या समझेंगे ?

बहुत से खर्च और हैं, जो बिल्कुल फिजूल हैं, मगर वे करते या खानदान के नाम पर उन्हें करने पड़ते हैं, जैसे – दशहरे, दीवाली के दिन उत्सव मनाना, दुनिया भर के लोगों को खिलाना-पिलाना। पैसे के नाम पर राव साहब को अपनी नाक कटाना मजूर नहीं है। सीधी-सी बात है !

उनका परिवार बड़ा नहीं है, लेदेकर तीन प्राणी हैं, पर अब भी तीस एक नौकर हैं •••कितने ही रिश्तेदार, जिनके महावार वेतनभत्ते बँधे हुए हैं। वे नौकरों को निकाल सकते हैं, पर निकालेंगे नहीं, रिश्तेदारों से भी किनारा कर सकते हैं पर करेंगे नहीं। दरियादिल आदमी हैं। कभी पैसे को हाथ का मैल समझा था। अब पुरानी आदत से इतने लाचार हैं, कि उसे बदल भी नहीं पाते।

राव साहब का कहना है कि जब तक कर्ज मिलता है तब तक

रईसी भले ही चार पायों पर न हो, तीन पर तो है ही। लेकिन मुसीबत यह है कि अब कर्ज भी नहीं मिलता है। बाप-दादाओं की जमीन जायदाद धीमे-धीमे बिक रही है, कुर्क हो रही है।

नौबत यह है कि अपने बड़े मकान की मरम्मत भी नहीं करवा पाते। जमीन के नाम पर दोचार पहाड़ियां रह गई हैं, जिन पर कभी-कभी भूले भटके शेर आ जाते हैं। जिस जगत में शेर को भी कुछ न मिलता हो, राव साहब को क्या मिलेगा?

"और कुछ मिलता हो या न मिलता हो, कभी-कभी शेर तो मिलते हैं, यही काफी है। जानवरों के क्या राजा मुफ्त मिलते हैं, उनकी बड़ी कीमत है।" राव साहब के मित्र प्रसाद ने कहा।

"क्या किया जाय?" यही समस्या राव साहब के सामने बनी रहती। साथ के जमींदारों ने महाजनों की तरह सूद पर रुपया देना शुरू कर दिया था। वे काफी कुछ रुपया बना भी रहे थे। किसी-किसी ने कुछ एजेन्सियां भी ले ली थी। कुछ ने उद्योगों में अच्छेखासे हिस्से खरीद लिये थे। कोई कुछ तो कोई कुछ कर ही रहा था, पर राव साहब को यह गवारा न था। इस तरह पैसा कमाना भी क्या वाहियात है, ... वही जो छोटे-मोटे लोग पेट पालने के लिये करते हैं।

वाहियात कह देना काफी नहीं है। पैसे की जरूरत थी, और पैसा पैसे कमाने वाले को दुत्कारने से तो आता नहीं है। क्या किया जाय? इसी चिन्ता में थे कि उनके मित्र प्रसाद ने कहा "बहुत से राजामहाराजाओं ने, जिनकी बड़ी-बड़ी रियासतें थी, आजकल नया कारोबार शुरू कर दिया है।"

"वह क्या?" राव साहब ने अपने ढंग से उत्सुकता प्रकट की।

"उनके पास अब भी कुछ ऐसे निजी जंगल हैं, जिनमें शेर हैं और अब भी कुछ शौकिया रईस हैं, जिनके पास रुपया है, पर

नहीं हैं। ये राजा ऐसे रईसों के लिये शिकार का इन्तजाम करते हैं और उनसे रुपया ऐंठते हैं, व्यापार करते हैं।"

"हाँ, यह व्यापार तो हमें कुछ समझ में आया। हम भी करेंगे। अपना जंगल है न।" राव साहब ने कहा।

"पर एक बात है, हमारे जंगल के बारे में लोग बहुत कम ही जानते हैं। कुछ इश्तहारबाजी करनी होगी, तभी लोग उनके बारे में जानेंगे और शिकार के लिये आयेंगे।"

"तब क्या किया जाये ?"

"इश्तहारबाजी में भी पैसा लगेगा।"

"......तो लगाओ," राव साहब ने कह तो दिया, पर प्रसाद से उनकी आर्थिक दुस्थिति छुपी न थी। कहने को कह तो देते हैं, और कर्ज भी ले लेते हैं, पर नतीजा हमेशा बुरा होता है।"

"बिना पैसे के ही काम होगा।" प्रसाद कह रहे थे।

"भाई, यह भलमनसाहत नहीं है।" राव साहब ने कहा।

"हमारा एक दोस्त है, रंगराजन, वह एक अखबार का बड़ा कारेस्पान्डेन्ट है, ऊटी हर साल मिलता है, दोस्ती किस काम की यदि मौके पर काम न आये ?" प्रसाद ने कहा।

"नहीं, भाई......हूँ, दोस्ती......हूँ......" राव साहब को संकोच हो रहा था। वे कुछ सोचते मालूम होते थे।

"उसे बुलाया जाय, उसे पाँच-दस दिन अपने यहाँ मेहमान के तौर पर रखेंगे। वह छुट्टी मनायेगा, और हमारा काम होगा। और कहीं छुट्टी पर जायेगा तो उसके दो सौ तीन सौ रुपये कम-से-कम खर्च होंगे ही, बशर्ते कि वह गया, हमारे भी होंगे। इसलिये अलग से देने की जरूरत नहीं। वह कंजूस है, और खौव्वा है।"

"हूँ......मगर......" राव कुछ निश्चय न कर पा रहे थे। सम्भव है कि उनको यह प्रबन्ध पसन्द न हो, सम्भव है, पसन्द हो।

"कहा करता था कि उसे शिकार का शौक है। दो-चार लेख

भी उसने शिकार के बारे में लिखे थे। डींग मारता था कि दो-चार शेर यूं ही मार दिये थे।

खैर, बुलाओ, तुम कह जो रहे हो·····"राव साहब ने स्वीकृति दे दी।

दोचार दिन बाद रंगराजन आये। शिकार के शौकीन हो या न हो, पर बढ़िया खानपान के वे अच्छे शौकीन थे। राव साहब के यहाँ, गिरती माली हालत के बावजूद, अच्छा खाना बनता था। और अच्छी तरह परोसा जाता था।

यदि जंगलों में शेर हो भी तो किसी के पुकारने पर तो नहीं आ जाते। चिल्ला-चिल्लाकर उनको एक जगह हाँकना होता है। हाँकने के लिये सैंकड़ो आदमी चाहिये। और भी कितने ही खर्च, फिर तब न खर्च किया जाये जब ठीक तरह मालूम हो कि शेर कहाँ है, है भी कि नहीं।

राव साहब कभी-कभी दोस्तों के संग शिकार कर लेते थे पर कोई खास शौकीन न थे। इन बातों में बेपरवाह ही नहीं पर लापरवाह भी नहीं थे।

घर में तीन एक नौकर थे ही, वे ही जंगल में दौड़ाये गये। छोटे से पेड़ पर छोटा-सा मचान बनवाया गया। मचान पर राव साहब थे और बगल में रंगराजन, शिकारी की पोशाक में, बड़ी-सी राइफल लिये।

हाँकने वाले शोर करने लगे। थोड़ी देर बाद कुछ-कुछ अन्धेरा हुआ, मगर कहीं शेर नहीं। हाँकने वाले पास आते जाते थे। दो चार मिनट बाद पेड़ों के पीछे कोई लम्बी-सी चीज दिखाई दी, शेर-सी! कुछ आहट हुई। रंगराजन के हाथपैर काँपने लगे, बुरी हालत, कभी शेर से मोर्चा थोड़े ही लिया था?

शेर आगे बढ़ा। रंगराजन की कँपकपी बढ़ी। भारीभरकम शरीर, सीधे बैठ भी न पाते थे। भूम से रहे थे, कभी एक पैर के बल, पर खड़े होते तो कभी दूसरे पैर के बल। इतना हिले-डुले कि मचान ही नीचे जा खिसका।

राव साहब राइफल लेकर खड़े हो गये। रंगराजन भागने लगे। उन्होंने निकर खराब कर दी। तब भी दम न लिया, पीछे मुड़ कर देखा, कि एक गढ़े में जा गिरे। तब उन्होंने देखा कि उनके पास दोचार नौकर खड़े हैं, और उनमें से एक ने शेर का चमड़ा पहन रखा है।

"......तो शेर यानी यह है, मेरी तोहीन करने के लिये, मुझे डराने के लिये, यह सब तमाशा रचा गया है. मजाक करने का भी क्या भद्दा तरीका है ! रंगराजन बहुत झुँझलाये, गरमाये, और सीधे शहर चले गये।

होने को तो राव साहब भी नाराज हुए, पर प्रसाद न मालूम क्यों न हँसी रोक सके। "जब भाग्य ही साथ न दे तो क्या किया जाये ? उससे कैसे कहा जाय कि जंगल में इस समय कम्बख्त शेर भी नहीं है ......वे भी शायद जमींदारी देखकर ही आयाकरते थे। यह कम्बख्त नौकर भी बेअक्ल निकला, वह वहाँ जाकर क्यों खड़ा हो गया ? बना बनाया काम सब बिगाड़ दिया।"

"मान लो वह गोली छोड़ देता तो......!"

"गोली तो क्या छोड़ता, उसे तो राइफल भी पकड़नी नहीं आती थी। आपसे कहता, और मैं आपको ऐन वक्त पर इशारा कर देता। आखिर यह इश्तहारबाजी के लिये ही तो यह सब किया है, और इश्तहारबाजी में यह सब चलता है......।"

दोस्ती के नाते रंगराजन को हँस देना चाहिये था। पर उसने इसके बारे में टेढ़े-मेढ़े ढंग से अपने अखबार से एक गन्दा लेख लिखा। इतनी बदनामी हुई कि अगर कभी राव साहब शेर के शिकार का व्यापार भी करना चाहते तो कर न पाते। रंगराजन ने उनकी मिट्टी पलीद कर दी थी।

रंगराजन क्या जाने कि किस लाचारी में, किस बुरी हालत में राव और उनके मित्र ने यह बात सोची थी ! वह क्या जाने कि यह उनके लिये रोजीरोटी का सवाल था। खानदानी आदमी यह खुलकर कह भी तो नहीं पाता !

एक दिन

"अरे आज भी तुम काम पर नहीं गये ? यूँ तो······" अम्बिकादेवी कहती-कहती रुकी। शायद सोचा होगा कि कहीं वह बुरा न मान जाये और माणिक्य हाथ जोडकर खड़ा हो गया।

हट्टा-कट्टा आदमी। सिवाय छोटी-सी तहमद के नंगा बदन, काला कसरती बदन, पूरे साढ़े पांच फुट का, बिल्कुल तन्दुरस्त, पर चेहरा खुश्क, सूखा-सा, भुना-सा। ······माणिक्य, ऐसा दीखता था जैसे अपने बारे में यह सब न जानता हो।

"मुत्तु की तबियत कैसी है ?" अम्बिका देवी ने झोपड़ी के दरवाजे के पास खड़े होकर पूछा।

"वैसी ही, जैसी कल थी।" माणिक्य ने इस प्रकार कहा जैसे जो चीज कल थी, उसका आज होना कोई चिन्ता का कारण न था। बिल्कुल बेपरवाह ! मुत्तु उसका लड़का था, पांच बरस का, जाने क्या बीमारी थी। पांच-सात दिन से बिस्तरे पर पड़ा छटपटा रहा था, तड़प रहा था, कराह रहा था। मगर उसका पिता ऐसा, जैसे उसको इसकी खबर ही न हो।

"दवा दी कि नहीं ?"

"उसकी मां कुछ दे गई है, पड़ोस में गई है, आती होगी···' वह अभी कह ही रहा था कि उसकी स्त्री झोपड़ी की ओर चली आ रही थी। फटी-पुरानी साड़ी, मैली-कुचैली। चेहरा भी तहियाया हुआ था। शिकनें ही शिकनें। उम्र ज्यादा न थी, पर बुढ़िया-सी हो गई थी।

"जब तुम काम पर न गये थे तो कम-से-कम हस्पताल से दवा तो ले आते ?" अम्बिकादेवी की आवाज में अब नाराजगी गूँजने लगी थी ।

"जी," माणिक्यं की पत्नी, सुन्दरम्मा कभी पति को घूरती तो कभी अम्बिकादेवी को देखती । उसकी आँखों में तरी थी, और नाखुशी भी ।

अम्बिकादेवी समाज सेविका हैं, पचास-साठ की उम्र । कोई संस्था चलाती हैं । विधवा हैं । धनी नहीं हैं । सहानुभूति प्रेरित हैं, यश प्रेरित नहीं । ......आडम्बर प्रेरित नहीं......वे दो-चार दिन में उनका हाल-चाल पूछने आ जाती हैं ।

"आज भी खाना-वाना है कि नहीं घर में ?" अम्बिकादेवी ने पूछा सुन्दरम्मा से । उसकी नजर झुक-सी हो गई । जाना जा सकता था कि पिछले दो दिनों से घर में चूल्हा न चढ़ा था ।

"तुम काम पर क्यों नहीं जाते ? लाखों ऐसे हैं जिनको काम नहीं मिलता और भूखे मरते हैं, एक तुम हो, काम है, और तुम काम करने का नाम नहीं लेते हो !"

'क्या काम है ? मैं आदमी हूँ, चक्की नहीं हूँ, रोज सवेरे आठ बजे जाता हूँ, और शाम सात बजे तक चीथड़े, गत्ते, कागज और जाने क्या-क्या पैरों से गूँदता हूँ, पीसता हूँ, खड़ा-खड़ा......क्या काम है ? यह भी कोई आदमियों का काम है ?" माणिक्यं ने कहा ।

"तो तुम क्या काम करना चाहते हो ?"

"घर बैठे-बैठे खाना......" सुन्दरम्मा ने कहा । न मालूम क्यों माणिक्यं मुस्करा दिया ।

"कुछ-न-कुछ करना है, काम करते-करते ऊब जाता हूँ, दो-चार दिन नहीं जाता, भूखे ही तो मरेंगे ?" माणिक्यं ने इधर-उधर देखते हुये कहा । मुख में रखा तम्बाकू उगल दिया ।

"हूँ, जब खाना ही नहीं है, तो ये लो......" अम्बिकादेवी ने

दो रुपये निकालकर सुन्दरम्मा को दिये। ......" नहीं-नहीं, पहले बच्चे की दवादारू का इन्तजाम करो।" वे माणिक्य को घूरती-घूरती चली गईं, जैसे उसको इस हालत में समझाना ही बेकार हो, फिजूल हो।

सुन्दरम्मा झोपड़ी में गई, आले में दो रुपये रख आयी और बाहर चली गई, जैसे डर रही हो कि अगर वह अन्दर रही तो उसका पति उसे मारेगा, पीटेगा। फिर उसे काम भी था, वह पास वाले नायडू के मकान में नौकरानी थी।

पत्नी उधर गई, माणिक्य ने आले में से दो रुपये ले लिये और सीधे होटल में गया। खूब खाया-पिया, चार बच्चे थे, सभी भूखे थे। किसी के लिये उसने कुछ खरीदना ठीक न समझा, पिता और इतना स्वार्थ ? इतनी पाशविकता ? ...... कौन जाने ?

फिर वह नदी के पास गया, कीकर के नीचे। यहीं उसके सरीखे लोगों की चौकड़ी लगती थी, ताश खेली जाती थी, जुआ खेला जाता था, नशा किया जाता था।

सभी की अपनी-अपनी दलीलें थीं, "यदि गत्ते बनाने के लिये दिन-रात गधों की तरह उठक-बैठक ही करते रहे, तो आदमी की तरह जियेंगे कब ? और बच्चे, जब देने वाले ने दिये है, तो वह ही उन्हें जिन्दा रखेगा, मर भी गये तो क्या हो गया......" एक अजीब बेफिक्री, अजीब मस्ती, अजीब नशा!"

माणिक्यं काम पर न गया, अम्बिकादेवी के कहने पर भी न गया। वह अपने साथियों के साथ ही मजा करता रहा। शायद इसे ही बेमतलब की, फिजूल की घर-फूँक मस्ती कहते हैं।......कौन जाने ?

सुन्दरम्मा घर आयी, पति न था, उसने सोचा कि अम्बिका-देवी ने डाँटा-फटकारा था, काम पर चला गया होगा, खुश हुई।

आले में टटोला, तो रुपये न थे। उसने सोचा खाने-

"जब तुम काम पर न गये थे तो कम-से-कम हस्पताल से दवा तो ले आते ?" अम्बिकादेवी की आवाज में अब नाराजगी गूँजने लगी थी।

"जी," माणिक्यं की पत्नी, सुन्दरम्मा कभी पति को घूरती, तो कभी अम्बिकादेवी को देखती। उसकी आँखों में तरी थी, और नाखुशी भी।

अम्बिकादेवी समाज सेविका हैं, पचास-साठ की उम्र। कोई संस्था चलाती हैं। विधवा हैं। धनी नहीं हैं। सहानुभूति प्रेरित हैं, यश प्रेरित नहीं।......आडम्बर प्रेरित नहीं......वे दो-चार दिन में उनका हाल-चाल पूछने आ जाती हैं।

"आज भी खाना-वाना है कि नहीं घर में ?" अम्बिकादेवी ने पूछा सुन्दरम्मा से। उसकी नजर झुक-सी हो गई। जाना जा सकता था कि पिछले दो दिनों से घर में चूल्हा न चढ़ा था।

"तुम काम पर क्यों नहीं जाते ? लाखों ऐसे हैं जिनको काम नहीं मिलता और भूखे मरते हैं, एक तुम हो, काम है, और तुम काम करने का नाम नहीं लेते हो !"

'क्या काम है ? मैं आदमी हूँ, चक्की नहीं हूँ, रोज सवेरे आठ बजे जाता हूँ, और शाम सात बजे तक चीथड़े, गत्ते, कागज और जाने क्या-क्या पैरों से गूँदता हूँ, पीसता हूँ, खड़ा-खड़ा......क्या काम है ? यह भी कोई आदमियों का काम है ?" माणिक्यं ने कहा।

"तो तुम क्या काम करना चाहते हो ?"

"घर बैठे-बैठे खाना......" सुन्दरम्मा ने कहा। न मालूम क्यों माणिक्यं मुस्करा दिया।

"कुछ-न-कुछ करना है, काम करते-करते ऊब जाता हूँ, दो-चार दिन नहीं जाता, भूखे ही तो मरेंगे ?" माणिक्यं ने इधर-उधर देखते हुये कहा। मुख में रखा तम्बाकू उगल दिया।

"हूँ, जब खाना ही नहीं है, तो ये लो......" अम्बिकादेवी ने

दो रुपये निकालकर सुन्दरम्मा को दिये । ......" नहीं-नहीं, पहले बच्चे की दवादारू का इन्तजाम करो ।" वे माणिक्य को घूरती-घूरती चली गईं, जैसे उसको इस हालत मे समझाना ही बेकार हो, फिजूल हो ।

सुन्दरम्मा झोंपड़ी मे गई, आले में दो रुपये रख आयी और बाहर चली गई, जैसे डर रही हो कि अगर वह अन्दर रही तो उसका पति उसे मारेगा, पीटेगा । फिर उसे काम भी था, वह पास वाले नायडू के मकान में नौकरानी थी ।

पत्नी उधर गई, माणिक्य ने आले मे से दो रुपये ले लिये और सीधे होटल मे गया । खूब खाया-पिया, चार बच्चे थे, सभी भूखे थे । किसी के लिये उसने कुछ खरीदना ठीक न समझा, पिता और इतना स्वार्थ ? इतनी पाशविकता ? ...... कौन जाने ?

फिर वह नदी के पास गया, कीकर के नीचे । यहीं उसके सरीखे लोगों की चौकड़ी लगती थी, ताश खेली जाती थी, जुआ खेला जाता था, नशा किया जाता था ।

सभी की अपनी-अपनी दलीलें थी, "यदि गल्ले बनाने के लिये दिन-रात गधो की तरह उठक-बैठक ही करते रहे, तो आदमी की तरह जियेंगे कब ? और बच्चे, जब देने वाले ने दिये हैं, तो वह ही उन्हें जिन्दा रखेगा, मर भी गये तो क्या हो गया......" एक अजीब बेफिक्री, अजीब मस्ती, अजीब नशा !"

माणिक्यं काम पर न गया, अम्बिकादेवी के कहने पर भी न गया । वह अपने साथियो के साथ ही मजा करता रहा । शायद इसे ही बेमतलब की, फिजूल की घर-फूंक मस्ती कहते हैं ।...... कौन जाने ?

सुन्दरम्मा घर आयी, पति न था, उसने सोचा कि अम्बिका-देवी ने डांटा-फटकारा था, काम पर चला गया होगा, खुश हुई ।

आले मे टटोला, तो रुपये न थे । उसने सोचा खाने-पीने की

चीजें खरीदने गये होंगे। आलसी वेफिक्र पति, चार बच्चे ! घर में खाली भी न बैठ पाती, हमेशा मधु-मक्खी की तरह जुटी रहती। सवेरे-शाम दो-दो घर में वर्तन माँजती, बुहारती, दुपहर को टिफिन केरियर में पाँच-छः मील चलकर बाबुओं के लिये खाना ले जाती और तब भी गुजारा न होता। कई बार महीने में खाली पेट सोना पड़ता।

माणिक्यं फिर ऐसा आया, जैसे जगी प्यास को बुझा न पाया हो, आर्त-सा, आतुर-सा ! घर में सुन्दरम्मा न थी।

दो-चार ताम्बे के वर्तन थे, जो ससुराल वालों ने दिये थे। तंगी के दिनों में वे कई बार मारवाड़ी के यहाँ गिरवी रखे जा चुके थे। ले-देकर वे ही वर्तन थे। उन्हीं में ही खाना पकता था। घर में और कुछ था भी नहीं, जिसको रखवाकर पैसा लिया जाता।

कुछ और पैसे लिये, उसने वही किया जो नशे में प्रायः लोग करते हैं......क्या नीचे तबके के लोग, क्या ऊँची हैसियत के लोग, ...वह भी वेश्या के यहाँ गया। बिना स्त्री के इस खूंखार दुनिया में वेरस जिन्दगी में मजा भी क्या है, ...उसका ख्याल था। जब मजा करने निकला था तो इसका भी मजा लेना था। फिर यह आदत भी पुरानी थी। न मालूम उस भयंकर कंगाली में भी वह यह आदत कैसे पाल रहा था......शायद इस आदत का सम्बन्ध आदमियत से है, न हैसियत से, न आय से ही।

रात वह काफी देर बाद आया। उसकी पत्नी सुन्दरम्मा देहलीज पर बैठी थी। उसकी इन्तजार कर रही थी। बच्चे कुछ देर रोये, चिल्लाये, फिर सो गये। वह स्वयं थकी माँदी थी, घर में कुछ देखा भाला भी नहीं। माणिक्यं हँसता-हँसता, झूमता-झूमता आ रहा था, हाथ में थैला था। सुन्दरम्मा का मन उछलने लगा। "काम पर तो गये ही, नून चावल भी ला रहे हैं। हे भगवान, भला करो इसअम्बि-कादेवी का ! वह सोचती-सोचती उठी, माणिक्यं ने उसके हाथ में

थैला देते हुए कहा "जाओ, खाना बनाओ !"

यह बात माणिक्यं के मुख से अवसर न निकलती थी। कभी-कभी कमाता था, पर घर में भी इस तरह पैसा न देता था, पत्नी कमाती थी, जूठन ही सही। बच्चों को खिलाती थी। उसने इसकी जरूरत भी समझी न थी।

"उठती क्यों नहीं है ?" वह हँसता चेहरा एकाएक तन सा गया। न मालूम क्यों उसको यूँ बदलता देख सुन्दरम्मा खुश हुई, शायद वह चाहती थी कि उसका पति भी रौबदार हो, भले ही दुनिया में वह उसी पर ही केवल रौब दिखाये।

थैला लेकर वह चूल्हे के पास गई, माथा ठनका। वे दो तीन बर्तन वहाँ न थे। उसने सोचा, "तो ये जनाब इन बर्तनों को गिरवी पर रखकर लाये हैं, यह खाने का सामान। मैं भी क्या पगली हूँ कि सोचने लगी कि ये पैसा कमाकर ये सब खरीदकर लाये हैं। "बर्तन कहाँ गये ?" सुन्दरम्मा ने झुंझलाते हुए पूछा।

"मारवाड़ी के यहाँ।"

"तो तुम काम पर नहीं गये, और इतने सारे बर्तन दे आये, बस इतना ही अनाज लाये, सेर आटा ! और रुपया क्या हुआ, मैं सोच रही थी .... "।

"तुम क्या सोच रही थी, हूँ हूँ, बताओ !" माणिक्यं गरजा।

"तुम्हें शर्म नहीं आती ? काम क्यों नहीं करते ? कब तक मेरे माइके के दिये हुए बर्तनों को गिरवी रखकर मजा करोगे ? तुम पैसा ......हे भगवान......" अभी सुन्दरम्मा कह ही रही थी कि माणिक्य मुक्कों से उसकी पीठ गूँदने लगा, 'पीटते-पीटते भरता बना दूँगा, हूँ ! जो मैं कहता हूँ करो।" वह उसे पीटता जाता था और सुन्दरम्मा रो भी न पाती थी, न चिल्ला ही पाती थी।

"फिर कभी अम्बिकादेवी का नाम लिया तो गला घोंट दूँगा, समझे ! हूँ बनाओ, खाना !" माणिक्यं चिल्लाया।

"किसमें ? मेरे सिर में ?" सुन्दरम्मा सिर पिटते-पिटते नीचे गिर गई।

वह एक दिन जो उन जैसे लोगों के लिये तीस-पैंतीस दिन में एक बार आता है, एक के रोने में और दूसरे के मजे में खत्म हो गया।